आचार्य सिद्धसेन विरचित

सम्मइसुत्तं

(सन्मतिसूत्र)

सम्पादन-अनुवाद

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रस्तावना

सम्प्रति यह सुविदित है कि पुराकाल से आर्यों के इस देश में श्रमण तथा वैदिक दोनों विलक्षण दार्शनिक मत समानान्तर रूप से प्रचलित रहे हैं। विभिन्न उल्लेखनीय हिन्दू-पुराणों तथा बौद्ध-साहित्य के सन्दर्भों से स्पष्ट हो जाता है कि श्रमण-परम्परा के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ का उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा भागवत आदि पुराण-साहित्य में मिलता है। श्रमण-परम्परा जैन आगमिक साहित्य में वर्णित व्रत, तपस्या और त्याग का सम्मिश्र परिणाम है, जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण कर्म-बन्धनों से निर्मुक्त हो शुद्ध आत्मा का चरम स्थिति को उपलब्ध होना है। इस मत के आगम-ग्रन्थों की भाषा प्राकृत है जो अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर के युग की लोक-प्रचलित जनभाषा है। आगम-साहित्य लोकोत्तर सहधर्मी संस्कृति एवं सभ्यता का एक चित्र पूर्णतः प्रकाशित करता है।

जैनधर्म की विहित पद्धति अनुभवजन्य है, और इसीलिए यह एक यथार्थवादी दर्शन है। डॉ. भट्टाचार्य ठीक ही आलोचना करते हैं : "दार्शनिक विषयों से सम्बन्धित जैन सिद्धान्त सामयिक आन्दोलन या हठधर्मी नहीं हैं, किन्तु तर्कवितर्क करने वाले अन्य भारतीय सम्प्रदायों की पंक्ति में सम्यक् रूप से अवस्थित हैं। इतना ही नहीं, ये उनसे भी अधिक तर्कसिद्ध हैं।"[1] फिर, प्रो. ए. चक्रवर्ती के शब्दों में—जैनधर्म की विचार-प्रणाली असाधारण रूप से आधुनिक यथार्थवाद और विज्ञान के इतने अनुरूप है कि कोई भी उसके पुरातत्त्व के सम्बन्ध में प्रश्न कर उसका परीक्षण कर सकता है। अद्यप्रभृति यह तथ्य निहित है कि ईसा की कई शताब्दियों के पूर्व भारतवर्ष में एक ऐसा मत विकसित था।[2]

दर्शन के क्षेत्र में विशेषतः आध्यात्मिक शाखा में जैनाचार्यों ने इतना प्रभाव प्रवर्तित किया कि उनका योग-दान आज भी भारतीय तर्कविद्या में विश्रुत तथा सम्मानित है। उनमें ही आचार्य सिद्धसेन मार्गदर्शक थे, जिन्होंने सूत्रों में निबद्ध लघुकाय कृति की रचना कर सम्मान्य भारतीय नैयायिकों तथा कवियों में दर्शन व शैली-विज्ञान के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था।[3]

---

1. भट्टाचार्य, हरिसत्य : रियल्स इन द जैन मेटाफिजिक्स, बम्बई, 1966, पृ. 7
2. प्रो. ए. चक्रवर्ती : द रिलीजन ऑव अहिंसा, बम्बई, 1957, परिचय, पृ. 11
3. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्गूढनिर्णयम्।
   निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः॥ —जयधवला में उद्धृत, ग्रन्थ 1, पृ. 154
   तथा—सुत्तं गणहरकहिदं तहेव पत्तेयबुद्धकहिदं च।
   सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहिदं च॥
   —जयधवला ग्रन्थ 1, गा. 67, पृ. 153; भगवती आराधना, गा. 34

सिद्धसेन और उनकी रचनाएँ

यद्यपि आचार्य सिद्धसेन के जीवन के सम्बन्ध में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है; फिर भी, सामान्यतः यह स्वीकार कर लिया गया है कि जन्म से वे ब्राह्मण थे। वे संस्कृत, प्राकृत, तर्कशास्त्र, तत्त्वविद्या, व्याकरण, ज्योतिष तथा विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। प्रौढ़ावस्था में उनका झुकाव व प्रवृत्ति जैनधर्म की ओर उन्मुख हो गई जो कि उनके गहन तार्किक विश्लेषण एवं अन्तर्दृष्टि का परिणाम थी। अपनी रचनाओं में प्रतिपादित जैन सिद्धान्तों के कारण उन्होंने शुद्ध तर्कशास्त्र के क्षेत्र में एक उत्कृष्ट स्थान बना लिया था।

डॉ. उपाध्ये के अनुसार सिद्धसेन उस यापनीय संघ के एक साधु थे जो कि दिगम्बर जैनों में एक उप-सम्प्रदाय था। उन्होंने दक्षिण भारत की ओर स्थानान्तरण किया था और पैठन में उनकी मृत्यु हुई थी[1]। तथ्यों से यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि वे दिगम्बर परम्परा के अनुयायी थे। दिगम्बर आगमिक साहित्य में सिद्धसेन का नाम उनकी कृति 'सन्मतिसूत्र' के साथ निर्दिष्ट है।[2] इसके साथ ही, सेनगण की पट्टावली में भी उनके नाम का उल्लेख मिलता है।[3] यही नहीं, श्वेताम्बर आचार्यों ने उनके युगपद्वाद का खण्डन किया है।

जैन साहित्य में विशुद्ध तर्कविद्या विषय पर प्राकृत भाषा में ज्ञात रचनाओं में सर्वप्रथम 'सम्मइसुत्तं' या 'सन्मतिसूत्र' अनुपम दार्शनिक रचना के कारण आचार्य सिद्धसेन का नाम प्रसिद्ध रहा है। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के परवर्ती अनेक विश्रुत जैन विद्वानों ने उनके नाम का सादर उल्लेख किया है।[4] यथार्थ में वे दर्शनप्रभावक आचार्य के रूप में विश्रुत रहे हैं। यद्यपि उनकी इस रचना का निर्देश 'सन्मतितर्कप्रकरण' नाम से भी किया जाता रहा है, किन्तु इसका वास्तविक नाम

1. उपाध्ये, ए. एन. : सिद्धसेनाज़ न्यायावतार एण्ड अदर वर्क्स, बम्बई, 1971 इन्ट्रोडक्शन, पृ. 17
2. "उत्तं च सिद्धसेणेण—"णामं ठवणा"".....ण च सम्मइसुत्तेण सह विरोधो; उज्जुसुद-णयविसयभावणिक्खेवमस्सिदूण तप्पउत्तीदो। तम्हा-संगह-ववहारणएसु सव्वणिक्खेवा संभवंति त्ति सिद्धं।" —जयधवला ग्रन्थ 1, पृ. 260-61
3. जैन सिद्धान्त-भास्कर, किरण 1, पृ. 38
4. आ. पूज्यपाद (येत्तेः सिद्धसेनस्य—जैनेन्द्र व्याकरण, 5, 1, 7) ("वर्धिष्ठश्च प्रादुर्भावे वर्तते इति श्रीवर्त्तमिति सिद्धसेनमिति" —सर्वार्थराजवार्तिक, 1, 13), आ. जिनसेन (बोधयन्ति सतां बुद्धि-सिद्धसेनस्य सूक्तयः—हरिवंशपुराण, 1, 30), आ. गुणभद्र (सिद्धसेन कवितर्कीयादृष्टिकल्पनरवरांकुरः ।। आदिपुराण, 1, 42), आ. पद्मप्रभमलधारिदेव (सिद्धान्तोदयभीधवं सिद्धसेनं....वन्दे), मुनि कनकामर (तो सिद्धसेण सुसमंतभद्द अकलंकदेव सुअजल-समुद्द. करकण्डचरिउ, 1, 2, 8), कवि हरिषेण (तो वि जिणिंद धम्मअणुसरां बहुसिरिसिद्धसेण सुपसाए, धर्मपरीक्षा, 1, 1, 10), भ. यशःकीर्ति (जिणसेण सिद्धसेण वि भयंत, परवाइदप्पभंजण कयंत—चन्द्रप्रभचरित), अपभ्रंशकवि द्वितीय धनपाल (सिरिसिद्धसेण पयपण विणोट जिणसेणें विरइउ— बाहुबलिचरित) इत्यादि।

तथा—नमः सन्मतये तस्मै भवकूपनिपातिनाम्।
सन्मतिर्विवृता येन सुखधामप्रवेशिनी ॥ —पार्श्वनाथचरित (वादिराज), श्लो. 22

'सम्मइसुत्तं' है। 'सम्मइ' या 'सन्मति' शब्द दिगम्बरों में प्रचलित रहा है जो तीर्थंकर महावीर के पाँच नामों में से एक है। इस नाम से भगवान् महावीर का उल्लेख श्वेताम्बर आगम-साहित्य में नहीं मिलता।

'सन्मतिसूत्र' 167 आर्या छन्दों में प्राकृत भाषा में निबद्ध अनेकान्तवाद सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ है। अनेकान्तवाद का सिद्धान्त नयों पर आधारित है। अतएव ग्रन्थ-रचना में अनेकान्तवाद के साथ नयों का भी विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण रचना तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें काण्ड कहा गया है। रचना में मूल तत्त्वों की सुन्दर व्याख्या है; जैसे कि लोक में उपलब्ध तत्त्वार्थ स्वयं तीन प्रकार के लक्षण वाले हैं: उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य; और यही यथार्थता का सत्य स्वरूप है। यथार्थता का स्वरूप नय और निक्षेप इन दो मूल तत्त्वों के द्वारा स्वीकृत किया जाता है और इनसे ही अनेकान्तवाद सिद्धान्त का निर्माण होता है। जैनधर्म आज तक और आगे भी 'अनेकान्तवाद' के रूप में निर्दिष्ट होता रहेगा। क्योंकि अनेकान्तवाद इसका प्राण है। 'अनेकान्तवाद' शब्द का प्रयोग उस सत्य के लिए किया जाता है जो अनन्त गुण युक्त है और प्रत्येक तत्त्वार्थ में निहित है तथा जिसका परीक्षण विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है। इस ग्रन्थ में इस अनेकान्त-विधि का विस्तृत तथा विशद विवेचन किया गया है। ग्रन्थ के प्रथम काण्ड में मुख्य रूप से नय और सप्तभंगी का, द्वितीय काण्ड में दर्शन और ज्ञान का तथा तृतीय काण्ड में पर्याय-गुण से अभिन्न वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। निःसन्देह यह एक ऐसी रचना है जिसका प्रभाव सम्पूर्ण जैन साहित्य पर लक्षित होता है।

अनेक रचनाओं में (लगभग एक दर्जन में) से चार कृतियों को कुछ विद्वान् आ. सिद्धसेन रचित मानते हैं। 'सन्मतिसूत्र' के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद नहीं है, किन्तु तीन अन्य रचनाएँ अब तक विवादग्रस्त हैं—ये तीनों एक ही सिद्धसेन की रचनाएँ है या नहीं ? श्वेताम्बर इन तीनों रचनाओं को भी सिद्धसेन प्रणीत मानते हैं—कल्याणमन्दिरस्तोत्र, न्यायावतार और द्वात्रिंशिकाएँ। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' के रचयिता आ. कुमुदचन्द्र हैं, जैसा कि अन्तिम पद्य में प्राप्त उनके नाम से प्रमाणित होता है।[1] पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार की आलोचना ठीक है—"ऐसी स्थिति में 'पार्श्वनाथद्वात्रिंशिका' के रूप में जो 'कल्याण-मन्दिरस्तोत्र' रचा गया, वह 32 पद्यों का कोई दूसरा ही होना चाहिए; न कि वर्तमान 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र', जिसकी रचना 44 पद्यों में हुई है और इससे कोई कुमुदचन्द्र भी भिन्न होने चाहिए। इसके सिवाय, वर्तमान 'कल्याण-मन्दिरस्तोत्र' में 'प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषात्' इत्यादि तीन पद्य ऐसे हैं जो पार्श्वनाथ को दैत्यकृत उपसर्ग से युक्त प्रकट करते हैं जो दिगम्बर मान्यता के अनुकूल और

---

1. जननयन-कुमुदचन्द्रप्रभास्वराः स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा।
   ते विगलितमलनिचया अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥ —श्लो. 44, कल्याणमन्दिरस्तोत्र

श्वेताम्बर मान्यता के प्रतिकूल हैं; क्योंकि श्वेताम्बरीय 'आचारांगनिर्युक्ति' में वर्द्धमान को छोड़कर शेष तेईस तीर्थंकरों के तपःकर्म को निरुपसर्ग वर्णित किया है"।[1] अतः 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' के रचयिता सिद्धसेन न हो कर निश्चय ही कुमुदचन्द्र नाम के भिन्न आचार्य हैं।

यह बताने के लिए केवल एक ही प्रमाण दिया जाता है कि 'न्यायावतार' के रचयिता आचार्य सिद्धसेन थे। पं. सुखलाल जी के शब्दों में 'प्रभावक चरित' के विवरण के अनुसार इसकी भी रचना 32 द्वात्रिंशिकाओं में से एक थी, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। पुरानी रचना में इसका उल्लेख किया गया है कि 32 द्वात्रिंशिकाएँ हैं, किन्तु यह बताने के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि 'न्यायावतार' उनमें से एक था।[2] इसलिए यह निश्चित नहीं है कि यह वही सिद्धसेन हैं जिन्होंने 'सन्मतिसूत्र' की रचना की थी। इसके अतिरिक्त प्रबन्धों में कई अन्तर्विरोध हैं, जिनके कारण उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यद्यपि यह कथन सत्य है कि 'न्यायावतार' पर आचार्य समन्तभद्र की रचनाओं का अत्यन्त प्रभाव है, किन्तु यह भी सत्य है कि ग्रन्थ की रचना 'सन्मतिसूत्र' की रचना से कई शताब्दियों के पश्चात् हुई। यह भी निश्चित है कि 'न्यायावतार' पर केवल समन्तभद्र का ही नहीं, किन्तु आचार्य पात्रकेसरी तथा धर्मकीर्ति जैसे विद्वानों का भी अन्यून प्रभाव रहा है। डॉ. हर्मन जेकोबी के विचारों का निर्देश करते हुए पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने ठीक ही कहा है कि 'न्यायावतार' में प्रतिपादित प्रत्यक्ष तथा अनुमानादिक के लक्षण बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के 'न्यायबिन्दु' में निर्दिष्ट लक्षणों के निरसन हेतु रचे गए। आ. धर्मकीर्ति का समय सन् 625-50 ई. है।[3] सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र जी ने 'न्यायबिन्दु' और 'न्यायावतार' में वस्तु-साम्य तथा शब्द-साम्य का निर्देश करते हुए स्पष्ट रूप से बताया है कि 'न्यायावतार' परवर्ती रचना है। उनके ही शब्दों में "अतः धर्मकीर्ति के 'न्यायबिन्दु' के साथ के साम्य तथा प्रमाण के लक्षण में आगत 'बाधवर्जित' पद से तथा अन्य भी कुछ संकेतों से 'न्यायावतार' धर्मकीर्ति और कुमारिल के पश्चात् रचा गया प्रतीत होता है और इसलिये यह उन सिद्धसेन की कृति नहीं हो सकता, जो पूज्यपाद देवनन्दि के पूर्ववर्ती हैं।"[4] इन प्रमाणों से निश्चित हो जाता है कि 'न्यायावतार' के लेखक ने बौद्ध साहित्य को सम्मुख रख कर ऐसी परिभाषाओं तथा लक्षणों का निर्माण किया और उनमें इस प्रकार की शब्दावली का

---

1. सव्वेसि तवो कम्मं निरुवसग्गं तु वण्णियं जिणाणं।
   नवरं तु वड्ढमाणस्स सोवसग्गं मुणेयव्वं ॥—आचारांगनिर्युक्ति गा. 276
   मुख्तार, पं. जुगलकिशोर 'युगवीर' : पुरातन-जैनवाक्य-सूची, प्रथम विभाग, प्रस्तावना, पृ. 127-28 से उद्धृत।
2. पं सुखलाल संघवी, पं. बेचरदास दोशी : सन्मति तर्क (अंग्रेजी अनुवाद), परिचय, 1939, पृ. 49
3. मुख्तार, जुगलकिशोर : पुरातन-जैनवाक्य-सूची, प्रथम विभाग, दिल्ली, 1950, पृ. 142
4. शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्र : जैन न्याय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1966, प्रथम संस्करण, पृ. 21

प्रयोग किया, जिनसे बौद्धों का भलीभाँति खण्डन हो सके और अपनी मान्यता की स्थापना हो। अतएव यह भी निश्चित है कि 'न्यायावतार' के कर्ता आचार्य पात्रकेसरी, धर्मकीर्ति और कुमारिल भट्ट के पश्चात् उत्पन्न हुए थे। इतना ही नहीं, 'न्यायावतार' में प्रयुक्त बौद्धों की पारिभाषिक शब्दावली से भी यही प्रमाणित होता है कि 'न्यायावतार' की रचना 'न्यायबिन्दु' से लगभग एक शताब्दी पश्चात् हुई थी।

यद्यपि द्वात्रिंशिकाओं के कुछ पद्यों (5. 31, 21. 31) में सिद्धसेन नाम का उल्लेख किया गया है, किन्तु यह कहना कठिन है कि यह वही सिद्धसेन हैं जिन्होंने 'सन्मतिसूत्र' की रचना की थी। पं. मुख्तारजी ने ठीक ही विचार किया है कि इक्कीसवीं द्वात्रिंशिका के अन्त में और पाँचवीं द्वात्रिंशिका के अतिरिक्त किसी भी द्वात्रिंशिका में सिद्धसेन के नाम का उल्लेख नहीं मिलता है। यह सम्भव है कि ये दोनों द्वात्रिंशिकाएँ अपने स्वरूप में एक न होने से किसी अन्य नामधारी सिद्धसेन की रचना हों या सिद्धसेनों की कृति हों।[1] क्योंकि यह निश्चित है कि द्वात्रिंशिकाओं में एकरूपता नहीं है। फिर, द्वात्रिंशिका का अर्थ बत्तीसी है। इसलिए प्रत्येक द्वात्रिंशिका में 32 पद्य ही होने चाहिए थे, किन्तु किसी द्वात्रिंशिका में पद्य अधिक हैं, तो किसी में कम हैं। दसवीं द्वात्रिंशिका में दो पद्य अधिक हैं और इक्कीसवीं में एक पद्य अधिक है, किन्तु आठवीं में छह, ग्यारहवीं में चार और पन्द्रहवीं में एक पद्य कम है। यह घट-बढ़ मुद्रित ही नहीं, हस्तलिखित प्रतियों में भी पाई जाती है।[2] अतः इसकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह है। डॉ. उपाध्येजी ने यह समीक्षण किया है कि प्रथम पाँच द्वात्रिंशिकाएँ आचार्य समन्तभद्र के 'स्वयम्भूस्तोत्र' से न केवल विचारों में, वरन् अभिव्यक्ति में भी समानता रखती हैं।[3] बत्तीस द्वात्रिंशिकाओं में से वर्तमान में केवल इक्कीस द्वात्रिंशिकाएँ ही उपलब्ध हैं। पं. सुखलालजी भी यह मानते हैं कि इन सभी रचनाओं में क्या विषय-वस्तु और क्या भाषा सब में भिन्नता है। केवल 'सन्मतिसूत्र' की प्रथम गाथा में 'सिद्धं' शब्द से आ. सिद्धसेन का संकेत किया गया है, किन्तु उक्त दो द्वात्रिंशिकाओं को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी सिद्धसेन नाम का उल्लेख नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर विद्वान् अभयदेवसूरि ने भी सिद्धसेन के केवल 'सन्मतिसूत्र' का उल्लेख किया है। 'प्रभावकचरित' में यह वर्णन किया गया है कि मूल में द्वात्रिंशिकाएँ तीस थीं। उनमें 'न्यायावतार' और 'वीरस्तुति' को सम्मिलित करने पर बत्तीस संख्या हो गई।[4] वस्तुतः इस प्रकार की किंवदन्तियों पर प्रत्यय नहीं किया जा सकता और न इनके आधार पर कोई निर्णय लिया जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि जो द्वात्रिंशिकाएँ 'सन्मतिसूत्र' के

---

1. मुख्तार, जुगलकिशोर : पुरातन-जैनवाक्य-सूची, प्रथम विभाग, दिल्ली, 1950, पृ. 129
2. वहीं, पृ. 129
3. उपाध्ये, ए. एन. : सिद्धसेनाज़ न्यायावतार एण्ड अदर वर्क्स, बम्बई, 1971, पृ. 23
4. पं. सुखलाल संघवी और बेचरदास दोशी : सन्मतितर्क की अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ. 43

विचारों से सादृश्य प्रकट करती हैं, उनको आ. सिद्धसेन कृत मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि जिस युगपद्वाद का प्रतिपादन 'सन्मतिसूत्र' में किया गया है, उसी भाव-साम्य को प्रकट करने वाली भी द्वात्रिंशिकाएँ (1. 32, 2. 30, 5. 21-22) हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि सभी द्वात्रिंशिकाएँ अप्रामाणिक हैं।

सिद्धसेन के नाम से रचित अन्य रचनाओं का भी यहाँ परिचय दिया जा रहा है। कुछ समय पूर्व ही मुझे दो रचनाएँ जयपुर में मिली हैं। 'इक्कवीसठाणा' की हस्तलिखित प्रति में सिद्धसेन का नाम है, जैसा कि अन्तिम पद्य से प्रकट होता है।[1] दूसरी रचना 'सहस्रनाम' भी हस्तलिखित है, जिसके लेखक का नाम अन्त में सिद्धसेन दिवाकर लिखा हुआ मिलता है।[2] इन दोनों रचनाओं की हस्तलिखित प्रति दि. जैन लूणकरण पाण्ड्या के मन्दिर, जयपुर में विद्यमान है। मैं नहीं समझता कि ये दोनों रचनाएँ एक ही सिद्धसेन की हैं। निश्चयात्मक रूप से इनके सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व अभी अनुसन्धान करना अवशिष्ट है। इसी प्रकार की अन्य रचनाएँ भी सिद्धसेन के नाम से उपलब्ध होती हैं जो निश्चित ही अलग-अलग सिद्धसेन नामधारी व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न काल की कृतियाँ हैं।

ऐसा पता चलता है कि सिद्धसेन नाम के कम-से-कम चार विद्वान् हो चुके हैं। प्रथम सिद्धसेन 'सन्मतिसूत्र' तथा कतिपय द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता हैं। दूसरे टीकाकार विद्वान् सिद्धसेनगणि हैं जो 'भाष्यानुसारिणी' और 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' टीका के लेखक हैं। तीसरे 'न्यायावतार' के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर हैं, जिनका जीवन-काल छठी शती का उत्तरार्द्ध या सातवीं शताब्दी है। चौथे साधारण सिद्धसेन हैं, जिन्होंने वि. सं. 1123 में अपभ्रंश भाषा में 'विलासवईकहा' की रचना की थी।

रचना-काल

डॉ. उपाध्येजी ने भलीभाँति पर्यालोचन कर 'सन्मतिसूत्र' के रचयिता आ. सिद्धसेन का समय 505-609 ई. निर्धारित किया है[3]। आचार्य सिद्धसेन के युगपद्वाद का खण्डन श्वेताम्बर आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि. सं. 562-666) ने 'विशेषणवती' में और हरिभद्रसूरि (वि. सं. 757-827) ने 'नन्दीवृत्ति' में किया है, जिससे सन्मतिसूत्रकार का समय अधिक-से-अधिक छठी शताब्दी का प्राचीन हो सकता है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने उनका समय लगभग 575-600 ई. निश्चित किया है।[4] पं. मुख्तारजी के विचार में 'सन्मतिसूत्र' के लेखक सिद्धसेन का समय

---

1. इय इक्कवीसठाणा उद्धरिया सिद्धसेणसूरीहिं।
   चउवीसजिणवसहं असेसमाहारणा भणिया ॥ 66 ॥
2. "इति श्रीसिद्धसेनदिवाकरपदाब्जकवीश्वरविरचितं श्रीसहस्रनामस्तोत्रं सम्पूर्णम्।"
3. उपाध्ये ए. एन. : सिद्धसेनाज़ न्यायावतार एण्ड अदर वर्क्स, 1971, पृ. 31
4. जैन सन्देश, शोधांक 2; 18 दिस. 1958, पृ. 48

विक्रम की छठी शताब्दी के तृतीय चरण और सातवीं शताब्दी के तृतीय चरण का मध्यवर्ती काल निर्धारित किया गया समुचित ही प्रतीत होता है।[1] इसका अर्थ यह है कि कम-से-कम विक्रम की छठी शताब्दी में और अधिक-से-अधिक सातवीं शताब्दी में अर्थात् वि. सं. 562-66 के मध्य ग्रन्थकार जीवित रहे होंगे। पं. सुखलालजी सिद्धसेन के समय के सम्बन्ध में निश्चित मत नहीं रखते। इसलिए वे उन्हें कभी पाँचवीं विक्रम शती का बताते हैं[2] और कभी सातवीं शताब्दी का।[3] प्रो. जोहरापुरकर उनका समय ईसा की छठी शताब्दी या उससे कुछ पहले मानते हैं।[4] यह भी ज्ञातव्य है कि आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी (विक्रम की छठी शताब्दी) ने 'जैनेन्द्र व्याकरण' (वेत्ति : सिद्धसेनस्य, 5. 1. 7) कह कर सिद्धसेन का उल्लेख किया है और उन्हीं सिद्धसेन की द्वात्रिंशिका का एक पद्य (3. 16) अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका (7. 13) में उद्धृत किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आ. पूज्यपाद, जिनभद्र क्षमाश्रमण, जिनदासगणि, हरिभद्रसूरि, विद्यानन्द तथा आ. अकलंकदेव के पूर्व छठी शताब्दी में आ. सिद्धसेन विद्यमान थे। अतः उनका समय मानना चाहिये।

'सन्मतिसूत्र' ग्रन्थ-रचना के स्रोत

आचार्य सिद्धसेन के पूर्व आचार्य गुणधर, आ. कुन्दकुन्द और उमास्वामी सूत्रात्मक शैली-विज्ञान का प्रवर्तन अपनी रचनाओं में कर चुके थे। ज्ञात आचार्यों की परम्परा में आचार्य गुणधर सूत्रों के प्रवर्तक थे।[5] वास्तव में यह परम्परा आचार्य धरसेन से भलीभाँति पल्लवित हुई थी, किन्तु उनके समय तक यह मौखिक ही थी।[6] उन सबका प्रभाव स्पष्ट रूप से 'सन्मतिसूत्र' पर लक्षित होता है। ग्रन्थ में इसका विशदता से प्रतिपादन किया गया है कि अनेकान्त का मूल नय और प्रमाण है जो केवली भगवन्तों से श्रुतकेवलियों को और उनसे आचार्यों को उपलब्ध श्रुत-परम्परा रूप से क्रमागत निबद्ध है। पं. सुखलालजी और बेचरदासजी के विचार हैं कि आ. कुन्दकुन्द ने अपने 'प्रवचनसार' में द्रव्य का विवेचन और आ. सिद्धसेन ने 'सन्मतिसूत्र' के तृतीय काण्ड में ज्ञेय की जो व्याख्या की है, वह अनेकान्त दृष्टि पर आधारित है।[7] आचार्य कुन्दकुन्द ने 'पंचास्तिकाय' (गा. 15) में 'भाव' शब्द का प्रयोग 'पदार्थ' के लिए किया है। 'सन्मतिसूत्र' में भी 'पदार्थ' के अर्थ में 'भाव' शब्द का प्रयोग हमें कई स्थानों पर दृष्टिगोचर होता है। 'पंचास्तिकाय' की बारहवीं गाथा

---

1. मुख्तार, पं. जुगलकिशोर : पुरातन-जैनवाक्य-सूची, प्रथम विभाग, दिल्ली, 1950, पृ. 157
2. संघवी, सुखलाल और बेचरदास दोशी : सन्मतितर्क, अंग्रेजी प्रस्तावना, बम्बई, 1939, पृ. 16
3. भारतीय विद्या, शोधपत्रिका, अंक 3, पृ. 152
4. जोहरापुरकर, विद्याधर : विश्वतत्त्व-प्रकाश, सोलापुर, 1964, परिचय, पृ. 41
5. "तदो अंगपुव्वाणमेगदेसो चेव आइरिय-परम्पराए आगंतूण गुणहराइरियं संपत्तो।"
6. "तदो सव्वेसिं—अंग—पुव्वाणमेगदेसो आइरिय परम्पराए—आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो।"
   —धवला, 1, 1, 67-68
7. संघवी, सुखलाल और बेचरदास दोशी : सन्मतितर्क की अंग्रेजी प्रस्तावना, बम्बई, 1939, पृ. 59

की पहचान हम 'सन्मतिसूत्र' की बारहवीं गाथा से कर सकते हैं।[1] इन दोनों रचनाओं में एक ही स्थान पर इस गाथा का अस्तित्व सहज ही परिहार्य नहीं है। 'द्रव्य' के लिए 'दविय' तथा 'दव्व' शब्द का प्रयोग भी 'पंचास्तिकाय' को देख कर किया गया है; जैसे कि उसकी व्युत्पत्ति सर्वप्रथम वहाँ दिखलाई पड़ती है।[2] आगम ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि बिना नयों (विशेष दृष्टिकोण) के कोई भी व्यक्ति सूत्रों के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ सकता, क्योंकि वे एक ही वस्तु के विभिन्न गुण-धर्मों तथा रूपों को प्रस्तुत करते हैं।[3] यदि यथार्थ में द्रव्यार्थिक या परमार्थ नय की दृष्टि से विचार किया जाए, तो अशुद्ध पर्याय रूप विभाव का अस्तित्व तथा सजीव प्राणियों का सद्भाव भी उस नय की दृष्टि में (जो कि सत्यार्थ को ले कर चलता है) बन नहीं सकता है।[4] यही भाव आचार्य कुन्दकुन्द की 'द्वादशानुप्रेक्षा' में वर्णित है।[5] यदि हम गहराई से देखें तो पता चलता है कि आचार्य कुन्दकुन्द की शुद्धनय की दृष्टि 'सन्मतिसूत्र' में प्रतिबिम्बित हुई है। आचार्य सिद्धसेन ने दृढ़ता से यह प्रतिपादन किया है कि नय का प्रयोग किसी भी वस्तु के वर्णन करने के लिय भंग (दृष्टिकोण) के रूप में किया जाता है। यथार्थ में तत्त्व अपने सम्पूर्ण आत्म-प्रकाशक रूप में अनिर्वचनीय है। शब्दों में उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जो उस आत्म-तत्त्व का अनुभव-अवलोकन करता है, वह अपने अनुभव को पूर्ण रूप से तथा उपयुक्त शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। आचार्य सिद्धसेन ने अपने नयवाद का विवेचन इन वचनों से ही पूर्ण किया है : शुद्ध नयवाद का विषय आत्मानुभव (भावश्रुत) है। श्रुत-कथित विषय का साधक शुद्ध नयवाद है। यद्यपि आत्मोन्मुखी प्रवृत्ति हेतु वस्तु-स्वरूप व तत्त्वज्ञान का निर्णय आवश्यक है, वस्तु-स्वरूप के ज्ञान के लिए व्यवहार नय का भी आलम्बन लेना पड़ता है; किन्तु अखण्ड आत्म-तत्त्व की अनुभूति के लिए दोनों नयों के पक्ष से मुक्त हो जाना पड़ता है। जो सहज परमानन्द स्वरूप शुद्ध आत्म-तत्त्व का अनुभव करने वाला है, वह सतत केवलज्ञान के भाव से उल्लासित होता हुआ किसी भी नय के विकल्प को ग्रहण नहीं करता।[6] परन्तु जो इस अवस्था को उपलब्ध नहीं हुआ, वह व्यवहार नय से पराङ्मुख हो

1. पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
   दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥ —पंचास्तिकाय, 1, 12
   तुलना कीजिए—दव्वं पज्जयविजयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि। —सन्मतिसूत्र, 1, 12
2. दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
   दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥ —पंचास्तिकाय 1, 9
3. णत्थि पुणोत्ते विहूणं सुत्तं अत्थेण जिणवरमदम्हि।
   तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतियां होंति ॥ 68॥ —षट्खण्डागम जीवस्थान 1.1.1
4. ण य दव्वट्ठियपक्खे संसारो णेव पज्जवणयस्स। —सन्मतिसूत्र, 1.17
5. जीवस्स णं संसारो णिच्चयणयकम्मणिम्मुक्को। —द्वादशानुप्रेक्षा, गा. 37
6. दोण्हवि णयाण भणिदं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो।
   णवि दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥ —समयसार, गा. 143

निश्चयनय का आलम्बन लेता है। क्योंकि निश्चय नय स्वयं निर्विकल्प समाधि-रूप है। अतः निश्चय नय की दृष्टि में व्यवहार नय प्रतिषिद्ध है। इतना होने पर भी, कोई भी नय किसी अन्य नय के विषय का न तो लोप करता है और न तिरस्कार ही करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत 'अष्टपाहुड' में ऐसे कई उद्धरण मिलते हैं जो न केवल शब्दों में, पदों में, वरन् वाक्य-रचना में भी 'सन्मतिसूत्र' से समानता प्रकट करते हैं। इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के 'नियमसार' के साथ 'सन्मतिसूत्र' की तुलना की जा सकती है।[1] 'नियमसार' की उन्नीसवीं गाथा में यह कहा गया है कि सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से जीव पूर्वोक्त व्यंजन पर्यायों से भिन्न है तथा विभाव व्यंजन पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सभी जीव उन पर्यायों से संयुक्त हैं। यही भाव "सन्मतिसूत्र" की प्रथम काण्ड की चौथी गाथा में प्रकट किया गया है। स्पष्ट रूप से विचारों, अभिव्यक्ति तथा शैली में भी आचार्य कुन्दकुन्द के 'पंचास्तिकाय' और 'सन्मतिसूत्र' में तथा 'प्रवचनसार' एवं 'सन्मतिसूत्र' और 'समयसार' में साम्य लक्षित होता है।[2]

पं. सुखलालजी तथा अन्य विद्वानों ने भी 'सन्मतिसूत्र' की प्रस्तावना में यह स्वीकार किया है कि दर्शन-ज्ञान की अभेदता का जो सिद्धान्त 'सन्मतिसूत्र' (2, 30) में मिलता है; इसके बीज स्पष्ट रूप से आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' (1, 13) में हैं। इसके अतिरिक्त 'समयसार' की चौदहवीं गाथा 'जो पस्सदि अप्पाणं' शुद्धनय के स्वरूप की व्याख्या करती हुई यह प्रतिपादन करती है कि शुद्धनय अविशेष रूप से अवलोकन करता है, जिसमें ज्ञान और दर्शन के भेद का कोई स्थान नहीं है। और इस दृष्टि से इस सन्दर्भ में अभेदवाद का मूल स्रोत—दोनों उपयोगों की युगपत् समग्रता का कथन ही 'समयसार' में उपलब्ध होता है।[3] इसके पूर्व यह विवेचन 'षट्खण्डागम' में प्राप्त होता है। आचार्य उमास्वामी ने संक्षेप में अपने सूत्र (सर्वद्रव्यपर्यायेषु 1, 29) में यह प्रतिपादन किया है कि केवली भगवान् प्रत्यक्ष रूप से (बिना मन और इन्द्रियों की सहायता के) सभी द्रव्यों और उनके गुणों तथा पर्यायों

---

1. तुलना कीजिए- नियमसार, गा. 166 और सन्मतिसूत्र, 2, 4; नियमसार, गा. 156 तथा सन्मतिसूत्र 2, 30; नियमसार, गा. 169 और सन्मतिसूत्र 2, 15; नियमसार, गा. 14 तथा सन्मतिसूत्र, 2, 20; नियमसार, गा. 160 एवं सन्मतिसूत्र 2, 3 इत्यादि।
2. पंचास्तिकाय गा. 12 और सन्मतिसूत्र 1, 12; पंचास्तिकाय गा. 154 तथा सन्मतिसूत्र 2, 25, पंचास्तिकाय गा. 18 एवं सन्मतिसूत्र 2, 42; पंचास्तिकाय गा. 43 तथा सन्मतिसूत्र 2, 37; प्रवचनसार 2, 46 और सन्मतिसूत्र 1, 18; प्रवचनसार 1, 18 तथा सन्मतिसूत्र 1, 36-40; प्रवचनसार 1, 84 और सन्मतिसूत्र 1, 20; प्रवचनसार 1, 26 तथा सन्मतिसूत्र 2, 30; प्रवचनसार 1, 23 एवं सन्मतिसूत्र 2, 45; समयसार 347, 348 तथा सन्मतिसूत्र 1, 52।
3. मुख्तार, जुगलकिशोर : सन्मतिसूत्र एण्ड सिद्धसेन, दिल्ली, 1965, पृ. 55,

को अतीन्द्रिय ज्ञान से जानते हैं, क्योंकि उनके क्षायिक ज्ञान होता है। यही बात बहुत पहले 'षट्खण्डागम' में कही जा चुकी थी। आचार्य कुन्दकुन्द का भी यही विचार है : केवली भगवान् के दोनों उपयोग एक साथ होते हैं; जैसे कि सूर्य का उदय होने पर प्रकाश और आतप युगपत् प्रकट होते हैं।[1] यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि हम दर्शन और ज्ञान में मनःपर्ययज्ञान तक भेद कर सकते हैं, किन्तु केवलज्ञान की स्थिति में दर्शन और ज्ञान में कोई भेद नहीं रहता। यदि केवलज्ञानी जीव लगातार सब जानता है, तो उसे सदैव सतत सब जानते ही रहना चाहिये, नहीं तो यह समझना चाहिए कि वह नहीं जानता है।[2] आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मतिसूत्र' में अभेदवाद के इस सिद्धान्त का ही विस्तार किया है। ग्रन्थ में प्रयुक्त "केई भणंति" (सन्मति, 2, 4) "कुछ लोग कहते हैं" यह वाक्य स्पष्ट रूप से क्रमवाद के मानने वालों की ओर संकेत कर रहा है, जिनकी मान्यता का खण्डन ग्रन्थकर्ता ने किया है। आचार्य सिद्धसेन की इस अभेदवाद की स्थापना का समर्थन आचार्य वीरसेन ने अपनी 'षट्खण्डागम' की टीका में किया है।

जैसा कि पं. सुखलालजी ने और बेचरदासजी ने 'सन्मतिसूत्र' की गाथाओं (2, 23-24) की व्याख्या में निर्दिष्ट किया है कि शास्त्र में कहीं भी श्रोत्रदर्शन, घ्राणदर्शन आदि व्यवहार का उल्लेख नहीं है, किन्तु श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान आदि का व्यवहार है।[3] परन्तु सन्मतिकार ने सभी इन्द्रियों का दर्शन माना है। सम्भवतः मान्यता के अनुसार श्वेताम्बर साहित्य में इस प्रकार के शब्द नहीं मिलते हैं, किन्तु दिगम्बर साहित्य में इनका प्रयोग उचित रूप से हुआ है। आचार्यों का कथन है कि दर्शनावरणीयकर्म का क्षयोपशम होने पर जीव नेत्र इन्द्रिय या मन के बिना कर्ण, घ्राण, रसना या स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा मन से अर्थ-ग्रहण करता है। नेत्र इन्द्रिय से देखे बिना ग्रहण करने के कारण इसे अचक्षुदर्शन कहा जाता है।[4] आगम ग्रन्थ "षट्खण्डागम" की धवला टीका में आचार्य वीरसेन ने चक्षु और मन को अप्राप्यकारी माना है तथा शेष चारों इन्द्रियों को प्राप्यकारी एवं अप्राप्यकारी दोनों रूपों में माना है।[5]

दर्शन 'उपयोग' की प्रथम भूमिका है, जिसे विशेष रहित या सामान्य ग्रहण भी कहते हैं। यदि इस प्रकार की भूमिका न हो, तो किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।[6] वास्तव में जीव वस्तुओं को जानते समय "मैं किसी वस्तु विशेष को जानूँ या नहीं जानूँ" इस प्रकार का विशेष-पक्षपात न कर सामान्य रूप से जानता है।

1. जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
   दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥ —नियमसार, गा. 160
2. कलघाटगी, टी. जी. : सम प्रोब्लेम्स इन जैन सायकोलॉजी, धारवाड़, 1961, पृ. 33
3. संघवी, पं. सुखलाल और बेचरदास : सन्मतितर्क-प्रकरण, पृ. 46
4. चौधाल, शरतचन्द्र : द्रव्यसंग्रह की टीका (द सेक्रेड बुक्स ऑव द जैनाज़) जिल्द 1, पृ. 10
5. षट्खण्डागम, वर्गणा खण्ड, 5, 6, 27, जिल्द 13, पृ. 225-26
6. दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा। —द्रव्यसंग्रह, गा. 44
   दंसणपुव्वं णाणं णाणाणिमित्तं तु दंसणं णत्थि। —सन्मतिसूत्र, 2, 22

उपयोग चेतना का ही परिणमन है जो नय की अपेक्षा जीव की एक पर्याय मात्र है। उपयोग दो प्रकार का है : दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। फिर, दर्शनोपयोग के भी चार भेद हैं—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन।[1] आचार्य वीरसेन का कथन स्पष्ट है कि दर्शन और ज्ञान में अन्तर यह है कि ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है। पर्यायरहित सामान्य मात्र के ग्रहण को ही दर्शन कहते हैं। सामान्य का अर्थ द्रव्य (आत्मा) है। दर्शन अन्तर्मुखी प्रवृत्ति द्वारा आत्मा को ग्रहण करता है।[2] अन्तर्ज्ञान के द्वारा दर्शन आत्मा को ग्रहण करता है, किन्तु ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत 'द्रव्यसंग्रह' की गाथा 43 की व्याख्या में ब्रह्मदेव कहते हैं कि 'दर्शन' का अर्थ सामान्य उपयोग है। जीव की अन्तरंग प्रवृत्ति उपयोग से ही लक्षित होती है। उदाहरण के लिए, जब कोई मनुष्य किसी वस्तु को समझना चाहता है, तो जानने के पूर्व वह उस वस्तु की ओर उन्मुख होता है जिसमें अन्तर्मुखी प्रवृत्ति रूप सामान्य प्रतिभास पाया होता है। इसे ही कहा जाता है कि उसके दर्शन है। किन्तु जब वह उस वस्तु के सम्बन्ध में विशेष रूप से आकार, वर्ण आदि जानना चाहता है, तो कहा जाता है कि उसके ज्ञान है।[3]

'दर्शन' शब्द का प्रयोग श्रुतज्ञान के लिए नहीं किया जा सकता, क्योंकि शास्त्र के ज्ञान से जिन पदार्थों को जाना जाता है, वे इन्द्रियों से अस्पृष्ट तथा अग्राह्य होते हैं। श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष की भाँति वस्तुओं को ग्रहण नहीं करता। और इसीलिए यह मतिज्ञान के लिए भी लागू नहीं होता।[4] यद्यपि श्वेताम्बरों के आगम ग्रन्थ 'प्रज्ञापनासूत्र' (30, 319) में यह प्रतिपादन किया गया है कि केवली भगवान् जिस समय जानते हैं, उस समय देखते नहीं हैं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं हैं; किन्तु आचार्य सिद्धसेन ने इस मान्यता का खण्डन किया है। प्राणी पहले किसी वस्तु की ओर उपयोग से उन्मुख होता है, फिर देख कर जानता है। जानने और देखने का यह क्रम मनःपर्ययज्ञान तक बराबर पाया जाता है। परन्तु केवलज्ञान-सम्पूर्णज्ञान की व्यक्त अवस्था—में दर्शन और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं रह जाता। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती इस मान्यता को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं : इस लोक में रहने वाले मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सभी जीव संसारी कहलाते हैं। सभी संसारी जीवों में दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। उनके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनों एक साथ नहीं होते। परन्तु केवली भगवन्तों के दोनों उपयोग एक

---

1. दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।
   अणिधणमणंतविसय-केवलियं चावि पण्णत्तं ॥—पंचास्तिकाय, गा. 42
2. जयधवला, ग्रन्थ 1, 1, पृ. 337
3. द्रव्यसंग्रह की टीका, गा. 44, पृ. 169
4. सन्मतिसूत्र 2, 28
5. दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा।
   जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि ॥—द्रव्यसंग्रह, गा. 44

साथ होते हैं।[1] इस मान्यता का समर्थन 'जयधवला' में किया गया है कि सर्वज्ञ को किसी प्रकार की इन्द्रियों की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। उनका ज्ञान पूर्ण, स्वतन्त्र तथा आत्मनिर्भर होता है।[2] इन सैद्धान्तिक मान्यताओं के प्रतिपादन से यह स्पष्ट हो जाता है कि "सन्मतिसूत्र" (गा. 2, 30) में इस प्रकार की विवेचना दिगम्बर जैन आम्नाय के अनुसार वर्णित है। आचार्य सिद्धसेन विवेचन करते हुए कहते हैं—"मन, वचन और शरीर के व्यापार से उत्पन्न आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्दन रूप क्रिया (योग) से मनुष्य कर्मों से बँधता है। और इसका कारण क्रोध, अहंकार, माया और लोभ रूप कषाय भाव हैं, जिनसे कर्म ग्रहण किए जाते हैं तथा जो कर्मों की स्थिति निर्मित करते हैं। परन्तु उपशान्त और क्षीणकषाय की अवस्था में कर्म-बन्ध की स्थिति का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता।[3] आचार्य पूज्यपाद 'तत्त्वार्थसूत्र' (8, 3) की अपनी टीका में इस गाथा का उद्धरण देते हुए अपनी व्याख्या में कहते हैं : "जीव योग से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तथा कषाय से स्थिति और अनुभागबन्ध निष्पन्न करता है। कषाय के उपशान्त, निर्जीर्ण या क्षीण होने पर बन्ध (स्थितिबन्ध) का कारण नहीं रहता। भाव यह है कि सयोगकेवली के एक समय का बन्ध, स्थिति का कारण नहीं है अर्थात् जिस समय बन्ध होता है, उसी समय सब कर्म झड़ जाते हैं।"[4]

आगम ग्रन्थों में यह कहा गया है कि द्रव्य वर्तमान पर्याय से भिन्न नहीं है। 'षट्खण्डागम' की 'धवला' टीका में आचार्य वीरसेन 48वें सूत्र में प्रतिपादित नयों की व्याख्या करते हुए व्यवहारनय का विषय स्पष्ट करने के लिए कहते हैं—अर्थ और व्यंजन पर्याय के भेद से पर्याय दो प्रकार की है। उनमें अर्थपर्याय अति विशिष्ट होने से एक आदि समय तक रहने वाली कही गई है। किन्तु व्यंजन पर्याय अन्तर्मुहूर्त से ले कर असंख्यात लोक मात्र काल तक अवस्थित अथवा अनादि-अनन्त है। इस व्यंजन पर्याय से स्वीकृत द्रव्य को भाव कहा जाता है। अतएव भावकृति की द्रव्यार्थिकनय विषयता विरुद्ध नहीं है। यदि इस मान्यता का 'सन्मतिसूत्र' के साथ विरोध होगा—यह कहा जाए तो उचित नहीं है। क्योंकि सूत्र में शुद्ध ऋजुसूत्र नय से विषय की गई पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को 'भाव' माना गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थ को मन में निश्चित कर आचार्य भूतबली भट्टारक ने नैगम, व्यवहार और संग्रह नय इन सब कृतियों को स्वीकार कर कथन किया है।[5] आचार्य अकलंकदेव ने द्रव्य

---

1. खीणे दंसणमोहे चरित्तमोहे तहेव घाइंतिए।
   सम्मत्त—विरियणाणी खइए ते होंति जीवाणं ॥ —षट्खण्डागम, ग्रन्थ 1, 1, गा. 59, पृ. 64; जयधवला, ग्रंथ 1, 1, गा. 14, पृ. 68 तथा धवला, 4, 1, 44, पृ. 119 एवं—जयधवला, ग्रन्थ 1, 1, पृ. 352—361
2. कम्मं जोगणिमित्तं बन्धइ बंधट्ठिई कसायवसा।
   अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिइकारणं णत्थि ॥ —सन्मतिसूत्र, 1, 19
3. जोगा पयडि पएसा ठिदि अणुभागा कसायदो कुणदि।
   अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधठिदिकारणं णत्थि ॥ 1 ॥ —सर्वार्थसिद्धि, 8, 3

और उसके गुणों तथा पर्यायों से संबंधित सभी विचार 'षट्खण्डागम' तथा आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं को ध्यान में रख कर प्रकट किए हैं। आचार्य कुन्दकुन्देव कहते हैं कि जो द्रव्य अपने गुणों से उत्पन्न होता है, वह उन गुणों से कभी भी भिन्न नहीं होता। जैसे कि लोक में स्वर्ण अपनी कड़ा आदि पर्यायों से भिन्न नहीं है, वैसे ही जीव अपने गुण-पर्यायों से भिन्न नहीं है।[1] अतएव यह कथन सत्य नहीं है कि आचार्य अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में "गुण पर्याय से भिन्न नहीं है" यह विचार सिद्धसेन से ग्रहण किया है। आगम ग्रन्थों में सभी बातों की चर्चा व्यवहार और निश्चय नय दोनों नयों की अपेक्षा से की गई है। यथार्थ में सम्पूर्ण दिगम्बर जैन-परम्परा इस विचार पर एक मत है और इसी प्रकार 'सन्मतिसूत्र' में चर्चित अन्य विचारों पर भी सहमत है। इतना ही नहीं, 'सन्मतिसूत्र' की व्याख्या को देखने से यह पता चलता है कि आ. सिद्धसेन के पूर्व एक मत अवग्रह को ही दर्शन मानता था। परन्तु आचार्य सिद्धसेन तथा आचार्य अकलंकदेव दोनों को ही यह मत मान्य नहीं था। अतएव दोनों ने इस मत की आलोचना की है।[2] वास्तव में अवग्रह और दर्शन एक-दूसरे से भिन्न हैं। जैनागमों में स्पष्ट रूप से इनकी भिन्नता का उल्लेख मिलता है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि इन्द्रिय और पदार्थ का योग होने पर सत्ता सामान्य का दर्शन होता है। आचार्य अकलंकदेव के अनुसार पदार्थ का निर्णय होने पर अनन्तर काल में सत्ता सामान्य का दर्शन ही अवग्रह है।[3] विषय और विषयी के सम्बन्ध होने के अनन्तरकाल में जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहा जाता है।[4] प्रो. कलघाटगी के शब्दों में "यथार्थ में यह इन्द्रियजन्य ज्ञान की अवस्था है। इसमें वस्तु के आकार का ज्ञान हुए बिना केवल उसके अस्तित्व का भाव होता है। चेतना में इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ को ग्रहण करना यह आद्य विषय है; जैसा कि विलियम जेम्स ने कहा है।[5]

आचार्य कुन्दकुन्द और उमास्वामी के अतिरिक्त जिन आचार्य का प्रभाव विशेष

---

1. "तत्थ वंजणपज्जाएण पडिगहियं दव्वं भावो होदि। एदस्स वट्टमाणकालो जहण्णुक्कस्सेहिं अंतोमुहुत्तो संखेज्जावलोगमेत्तो अणाइणिहणो वा, अप्पिदपज्जायपढमसमयप्पहुडि आचरिम-समयादो एसो वट्टमाणकालो त्ति णायादो। तेण भावकदीए दव्वट्ठियणयविसयत्तं ण विरुज्झदे। ण च सम्मइसुत्तेण सह विरोहो, सुद्धुज्जुसुत्तणयविसयीकयपज्जाएणुवलक्खियदव्वस्स सुत्ते भावत्तब्भुवगमादो। एवं वुत्तासेसत्थं मणम्मि काऊण णेगम-ववहार-संगहा सव्वाओ कदीओ इच्छंति त्ति भूदबलिभडारएण उत्तं।" —षट्खण्डागम, ग्रन्थ 9, वेदनाखण्ड 4, 1, 48, पृ. 243
2. इंदियं जं उपज्जदि गुणेहिं जं तेहिं जाणसु अणण्णं
जह कडयादीहिं दु पज्जाएहिं कणयं अणण्णमिह। —समयसार, गा. 308
3. शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्र : जैन न्याय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1966, पृ. 153
4. "अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः।" —लघीयस्त्रय, कारिका 5
5. विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः। —सर्वार्थसिद्धि, 1, 15
6. कलघाटगी, टी. जी. : सम प्रोब्लेम्स इन जैन सायकलॉजी, धारवाड़, 1961, पृ. 83

रूप से 'सन्मतिसूत्र' पर परिलक्षित होता है, वे हैं—आचार्य समन्तभद्र। आचार्य समन्तभद्र की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से 'सन्मतिसूत्र' पर देखा जाता है। क्योंकि 'आप्तमीमांसा' की 7वीं कारिका का विवेचन अन्य शब्दों में 'सन्मतिसूत्र' (3, 11) में किया गया है। और यही प्रभाव दिगम्बर-परम्परा के परवर्ती आचार्यों की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि 'सन्मतिसूत्र' की रचना के समय आ. सिद्धसेन के सम्मुख 'आप्तमीमांसा' और 'स्वयंभूस्तोत्र' विद्यमान थे। पं. सुखलालजी के कथनानुसार एक ओर 'स्वयम्भूस्तोत्र' और "आप्तमीमांसा" हैं और दूसरी ओर 'द्वात्रिंशिकाएँ', 'न्यायावतार' और 'सन्मतिसूत्र' हैं, जिनमें विषयवस्तु में बहुविध प्रभावपूर्ण साम्य हमें स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।[1] इसी प्रकार हम कुछ अन्य उद्धरण भी दे सकते हैं जो शब्दों, रचना शैली आदि में भी सदृश हैं। किसी समय यह माना जाता था कि समन्तभद्र एक बौद्ध साधु थे। परन्तु अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि आचार्य पूज्यपाद ने जिन लेखकों का उल्लेख किया है, वे सभी विद्वान् गौरवशाली संघ के जैनाचार्य के रूप में हमें विज्ञात हो चुके हैं। अतः इसके विपरीत जब तक कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, तब तक यह मान लेना आवश्यक हो गया है कि समन्तभद्र जैन लेखक थे।[2] उनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। स्पष्ट रूप से अभिलेखीय प्रमाण के आधार पर समन्तभद्र का दिगम्बर जैन आचार्य होना निर्विवाद सिद्ध है।[3]

आचार्य सिद्धसेन के 'सन्मतिसूत्र' पर लिखी गई दो टीकाओं का पता चलता है। उनमें से एक संस्कृत भाषा में लिखित ग्यारहवीं शताब्दी के श्वेताम्बर आचार्य अभयदेवसूरि की टीका है जो 25,000 श्लोकप्रमाण उपलब्ध है। दिगम्बर आचार्य सुमतिदेव कृत संस्कृत टीका का उल्लेख मिलता है, जैसा कि वादिराज ने 'पार्श्वनाथचरित' में निर्देश किया है।[4] किन्तु वह संस्कृत टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है और न किसी ने खोज की है। इनके अतिरिक्त श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'सन्मतिसूत्र' पर श्री मल्लवादीकृत टीका का निर्देश किया है।[5] सम्प्रति श्री मल्लवादी कृत रचनाओं में एकमात्र 'नयचक्र' उपलब्ध है। इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मतिसूत्र' में जिन विषयों को चर्चित किया है और इस ग्रन्थ के जो सन्दर्भ तथा उद्धरण 'षट्खण्डागम' आदि ग्रन्थों की टीकाओं में उपलब्ध होते हैं, वे सभी दिगम्बर ग्रन्थों के अंश हैं और उनको प्रमाण के रूप में ही निर्दिष्ट किया गया है। यदि ये दिगम्बर ग्रन्थों के प्राचीनतम अंश न होते, तो

---

1. संघवी, सुखलाल और बेचरदास दोशी : सन्मति तर्क (अंग्रेजी अनुवाद), प्रस्तावना, पृ. 66-67
2. शाकटायन व्याकरण का सम्पादकीय आमुख, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ. 9
3. इंपेग्राफिका कर्णाटिका, जिल्द 5, अभिलेख सं. 149
4. नमः सन्मतये तस्मै भव-कूप—निपातिनाम्।
   सन्मतिर्विवृता येन सुखधाम—प्रवेशिनी ॥ —पार्श्वनाथचरित, श्लो. 22
5. उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ। —अनेकान्तजयपताका, पृ. 47

इनको प्रमाण-कोटि में प्रस्तुत नहीं किया जाता।

आचार्य सिद्धसेन के परवर्ती आचार्य

आचार्य सिद्धसेन को आचार्य गुणधर, भूतबलि, कुन्दकुन्द, उमास्वामी और आ. समन्तभद्र से जो विचार-परम्परा उपलब्ध हुई थी, वही परवर्ती आचार्य की कृति में अनुवर्तित रही। उनमें सर्व प्रथम आचार्य पूज्यपाद बनाम देवनन्दि (लगभग वि. सं. 607-657) का नाम लिया जाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि पूज्यपाद ने सिद्धसेन का उल्लेख विशेष रूप से 'जैनेन्द्रव्याकरण' के सूत्र (वेत्तेः सिद्धसेनस्य, 5, 1, 7) में किया है। उन्होंने अपनी 'तत्त्वार्थवृत्ति' (सर्वार्थसिद्धि) नामक 'तत्त्वार्थसूत्र' की टीका (7, 13) में आ. सिद्धसेन कृत द्वात्रिंशिका के सोलहवें श्लोक का प्रथम चरण उद्धृत किया है।[1] इसके अतिरिक्त 'सन्मतिसूत्र' की एक गाथा (1, 19) भी किंचित् परिवर्तन के साथ आचार्य पूज्यपाद कृत 'सर्वार्थसिद्धि' (8, 3) में उद्धृत मिलती है। अतः आचार्य पूज्यपाद की रचनाओं पर 'सन्मतिसूत्र' का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

आचार्य अकलंकदेव (वि सं 777-837) ने 'तत्त्वार्थसूत्र' के 'गुणपर्ययवद्-द्रव्यम्' (5, 37) सूत्र की व्याख्या करते हुए गुण को पर्याय से भिन्न नहीं माना है। यहाँ तक कि गुण ही पर्याय है, यह निर्देश कर उन्होंने परमत से स्वमत की भिन्नता सिद्ध की है। उनका यह विवेचन अन्य आचार्य के साथ ही आचार्य सिद्धसेन के विचारों का पूर्ण रूप से अनुगमन करता है। इसी प्रकार उन्होंने 'लघीयस्त्रय' की 67 वीं कारिका में 'सन्मतिसूत्र' की एक गाथा (1, 3) को संस्कृत-छाया के रूप में उद्धृत किया है।[2]

आचार्य सिद्धसेन से अत्यधिक प्रभावित एक अन्य दिगम्बर आचार्य हैं—विद्यानन्दि (वि. सं. 832-897)। उन्होंने अपने "श्लोकवार्तिक" ग्रन्थ में नय तथा अनेकान्त विषय का प्रतिपादन करते हुए 'सन्मतिसूत्र' की कुछ गाथाओं को संस्कृत-छाया के रूप में उद्धृत किया है।[3] यद्यपि आचार्य सिद्धसेन के विचारों से वे पूर्णतः सहमत प्रतीत नहीं होते हैं, फिर भी उन पर आ. सिद्धसेन का प्रभाव कम नहीं माना जा सकता है।

धर्मप्रभावक दिगम्बर आचार्य प्रभाचन्द्र विरचित 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' की भाषा

---

1. वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते। —सर्वार्थसिद्धि, 7, 13
2. "ततः तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषमूलव्याकरणौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ।"
—लघीयस्त्रय, कारिका 67 की स्वोपज्ञ विवृति
3. "यावंतो वचनपथास्तावंतः सम्भवन्ति नयवादाः" इति वचनात्। —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. 116
तदुक्तं स्थापना द्रव्यं द्रव्यार्थिकनयार्पणात्।
पर्यायार्थार्पणाद् भावस्तेन्योऽस्तः सम्यगीरितः ॥ —वही, श्लो. 69
तथा—"गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति तस्य सूत्रितत्वात्, तदागमविरोधादिति कश्चित्। सोऽपि सूत्रार्थं नाभिज्ञः। पर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभवद्विपरिणामाश्रयं द्रव्यमुक्तम्।"—वही, पृ. 112

में 'सन्मतिसूत्र' का प्रबल शब्द-सादृश्य लक्षित होता है। 'न्याय-कुमुदचन्द्र' में जो यत्किंचित् सादृश्य परिलक्षित होता है, वह 'प्रमेयकमल-मार्तण्ड' के माध्यम से आगत है; साक्षात् नहीं। पं. महेन्द्रकुमार जी के शब्दों में 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' के जिन प्रकरणों के जिस सन्दर्भ से "सन्मतितर्क" का सादृश्य है, उन्हीं प्रकरणों में 'न्यायकुमुदचन्द्र' से भी शब्द-सादृश्य पाया जाता है।[1] केवल शब्द-सादृश्य ही नहीं, वस्तु-विषय में तथा भावों में भी विविध आयामी साम्य स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य आचार्यों की रचनाओं पर भी आचार्य सिद्धसेन का प्रभाव सामान्य रूप से लक्षित होता है, जिनके नाम हैं—हरिभद्रसूरि (वि.सं. 757-827), शीलांक, शान्तिसूरि, वादिदेव, अनन्तवीर्य, हेमचन्द्र और यशोविजय। यथार्थ में आचार्य सिद्धसेन ने प्रबल युक्तियों के द्वारा जिस अभेदवाद के सिद्धान्त की पुनः प्रस्थापना की और दर्शन तथा अवग्रह आदि मान्यताओं का सिद्धान्त के रूप में स्पष्ट विवेचन किया, उनसे प्रभावित हो कर परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों ने भी उनका अनुगमन किया। विशद रूप से आचार्य सिद्धसेन की रचनाओं का अध्ययन करने की दिशा में यशोविजय अंतिम विशिष्ट विद्वान् थे। इस प्रकार आचार्य सिद्धसेन का महामहिम प्रभाव सतत जैन साहित्य पर लक्षित होता रहा है।

भाषा

यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस ग्रन्थ की भाषा प्राकृत है। यद्यपि प्राकृत में विभिन्न बोलियों का अस्तित्व लक्षित होता है जो सामान्यतः हमारी समझ से परे है, तथापि भाषागत प्रवृत्तियों के आधार पर इस ग्रन्थ में प्रयुक्त बोली का निश्चय किया जा सकता है। सर्वप्रथम हम यह देखते हैं कि 'सन्मतिसूत्र' में मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप है और उनके स्थान पर 'य' श्रुति का प्रयोग हुआ है। डॉ. हीरालाल जैन के अनुसार प्राकृत भाषा में द्वितीय शताब्दी के पूर्व इस प्रवृत्ति का पता नहीं चलता। यह भाषागत प्रवृत्ति ईस्वी की द्वितीय शताब्दी के पश्चात् प्रारम्भ हुई। यथार्थ में यही महाराष्ट्री प्राकृत की भेदक आकृति है।[2] प्राकृत के वैयाकरणों के अनुसार महाराष्ट्री प्राकृत के लक्षण निम्नलिखित हैं:—

(1) कर्ताकारक एक वचन में 'ओ' प्रत्यय जुड़ कर प्रथमा विभक्ति बनती है (जैसे—संसारो, णयो, विसेसो, भावो इत्यादि)।

(2) संस्कृत में जहाँ कर्मवाच्य में 'य' प्रत्यय संयुक्त होता है, उसके स्थान पर प्राकृत में 'इज्ज' हो जाता है (होज्ज 2, 9; साहेज्ज 3, 56; वयणिज्ज 3, 62)।

(3) महाराष्ट्री प्राकृत में सप्तमी विभक्ति के एक वचन में 'म्मि' प्रत्यय प्रयुक्त होता है (समयम्मि 1, 50; सुत्तम्मि 2, 7; केवलणाणम्मि 2, 8; अट्ठम्मि 2, 25; गुणम्मि 3, 15; संपयणम्मि 3, 64)।

(4) पूर्वकालिक कृदन्त की रचना 'ऊण' प्रत्यय लगा कर की जाती है

1. न्यायाचार्य, पं. महेन्द्रकुमार जैन: न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ. 40
2. वैशाली इन्स्टीट्यूट रिसर्च बुलेटिन (डॉ. हीरालाल जैन स्मृति-अंक), सं. 2, 1974, पृ. 8

(जैसे-मोत्तूण 2, 25; होऊण 2, 2)।

(5) महाराष्ट्री प्राकृत में सभी अन्तःस्वरात्मक महाप्राण स्पर्शी व्यंजन लुप्त हो जाते हैं तथा सभी अन्तःस्वरात्मक सघोष महाप्राण स्पर्शी व्यंजन 'ह' रूप में ह्रस्व हो जाते हैं (जैसे—सुहो—सुख, जहा—यथा, दुविहो—द्विविध, साहओ—साधक) उपलब्ध होते हैं जो अन्य साहित्यिक प्राकृतों से भिन्न हैं।[1] यह प्रवृत्ति इस ग्रन्थ में अतिशयता से मिलती है। उदाहरण के लिए कई शब्द उद्धृत किए जा सकते हैं; जैसे कि—साहपसाहा (1, 5), पहो (1, 41), पणिहाणं (1, 43), तहेव (2, 15), अवहि (2, 20), अहिय (3, 15), विराहओ (3, 45), साहओ (3, 46), साहम्मउ (3, 56), सायारं (2, 11), सलाहमाणा (3, 62), पडिसेहे (2, 39), पसाहणं (1, 44), अहिगय (3, 65), इत्यादि।

'सन्मतिसूत्र' में अन्तःस्वरीय या अव्यवहितपूर्व व्यंजन इकाई रूप में शब्द ग्रहण करते समय सामान्यतः ह्रस्व होने की अपेक्षा क, ग, च, ज, त, द और प का लोप हो जाता है और 'य' श्रुति तथा कहीं-कहीं 'व' श्रुति का भी प्रयोग हुआ है; जैसे कि सायारं (2, 11), वियाणंतो (2, 13), सुय (2, 27), उवउत्तो (2, 29), उप्पाओ (2, 31), उववण्णं (2, 33), साई (2, 34), उयाहरण (2, 31), य (1, 43), वयमाणो (3, 2), उ (3, 4), वि (3, 6), एयं (3, 15), पज्जव (1, 3), उवणीयं (3, 22), भूया (3, 24), कओ (3, 25), [illegible] (3, 26), [illegible] (3, 27), [illegible] (3, 29), [illegible] (3, 26), यवएसो (3, 39) इत्यादि।

इनके अतिरिक्त हमें ग्रन्थ में सर्वत्र 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग मिलता है (जैसे—णाणं (2, 6), दंसणं (2,6), ण (2, 10), पण्णत्तं (2, 14), अण्णत्तं (2, 22), णियमेण (2, 24), अणागय (2, 25), तेण (2, 26), णवरं (3, 14), णणु (3, 20), उण (3, 21), णयण (3, 21), णिमित्तं (3, 22), आदि।

यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से शौरसेनी की ओर झुकाव प्रदर्शित करती है। निःसन्देह रूप से अधिकतर दिगम्बर जैन आगम-साहित्य शौरसेनी प्राकृत में ही लिखा हुआ मिलता है। अतएव 'सन्मतिसूत्र' की भाषा शौरसेनी प्रभावापन्न महाराष्ट्री है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि रचना में देशी शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है : णिमेण[2] (1, 5), भव्वय[3] (3, 17), हंदी[4] (3, 28) प्रभृति। क्रियापदों में भी हवइ, पासइ, पडइ, होइ, कुणइ, जुज्जइ आदि महाराष्ट्री की प्रवृत्ति स्पष्टतः द्योतित करते हैं। इस प्रकार प्राकृत बोलियों के भाषा-वैज्ञानिक समीक्षणों के अनुसार, विशेषकर महाराष्ट्री के अध्ययन के आधार पर यह सहज ही निश्चित हो जाता है कि इस ग्रन्थ की भाषा महाराष्ट्री है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के विचारों से भी इस तथ्य की पुष्टि

1. सेन, सुकुमार : ए कम्पेरेटिव ग्रैमर ऑव मिडिल इण्डो-आर्यन, पूना, 1960, पृ. 20
2. "णिमेणमवि ठाणं" —देशी नाममाला, 4, 37
3. "भव्वो बहिणीतणए" —वही, 6, 100
4. "तत्र हंदि विषादविकल्पपश्चात्तापनिश्चयसत्यगृहाणार्थेषु।" —वही, 8, 72 विवृति

होती है—"श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों की भाषा प्राकृत अर्धमागधी है, पर इस ग्रन्थ की प्राकृत महाराष्ट्री है जो शौरसेनी का एक उपभेद है। इस भाषा का प्रयोग ई. सन् की चौथी-पाँचवी शताब्दी से हुआ है। नाटकीय शौरसेनी और जैन शौरसेनी के प्रभाव से ही उक्त महाराष्ट्री का भेद विकसित हुआ है।"[1] अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि 'सन्मतिसूत्र' की भाषा प्राकृत महाराष्ट्री है।

प्रस्तुत संस्करण

यद्यपि "सन्मतिसूत्र" के, टीका सहित तथा बिना टीका के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु कोई भी जनोपयोगी संस्करण आज तक प्रकाशित नहीं हुआ था। अतः इस कमी को पूरा करने के लिए, भाषा और भाव की दृष्टि से सरलता तथा स्पष्टता को लिए हुए विद्यार्थियों एवं जनता के लिए उपयोगी यह संस्करण प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ का सम्पादन डॉ. ए. एन. उपाध्ये के संस्करण पर आधारित है जो 'अ' और 'ब' इन दो प्रतियों के आधार पर किया गया था और जिसका प्रकाशन जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई से हो चुका है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत संस्करण में एक हस्तलिखित प्रति का भी उपयोग किया गया है जो तेरापंथी बड़ा मन्दिर, जयपुर (राजस्थान) में सुरक्षित है। इस प्रति की अनुक्रम संख्या 1839 है और इसमें 578 पाना हैं। यह हस्तलिखित प्रति 'तत्त्वबोधविधायिनी' टीका से युक्त है। प्रस्तुत संस्करण में इसका उल्लेख 'स' प्रति के रूप में किया गया है। इनके अतिरिक्त पं. सुखलाल और बेचरदास के संस्करण का भी उपयोग 'द' रूप में किया गया है। सम्पादन करते समय शब्द-रचना को ध्यान में रख कर मूल ग्रन्थ की रचना-संघटना के अनुरूप ही पाठों को ग्रहण किया गया है। इससे मूल रचनाकार की रचना की एकता की सुरक्षा बनी रहेगी। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ उत्तर भारत में उपलब्ध होती हैं, जिससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि आचार्य सिद्धसेन मूल में उत्तर भारत के निवासी रहे होंगे।

आभार-ज्ञापन

सर्वप्रथम मैं आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज के प्रति अपनी श्रद्धा रूप संस्तुति व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मुझे प्रेरित कर इस ग्रन्थ के अधुनातन संस्करण के लिए बारम्बार उत्साहित किया। यथार्थ में मैं डॉ. आ. ने. उपाध्येजी का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिनके सम्पादित 'सन्मतिसूत्र' की सहायता से मैं इस विशद ग्रन्थ का सम्पादन कर सका। हाय ! दुर्दैव की क्रूरता ने यह अवसर भी मुझ से छीन लिया, जिन क्षणों में व्यक्तिगत रूप से उस महान् व्यक्तित्व के प्रति प्रत्यक्ष रूप से अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर सकता। मैं पं. मूलचन्दजी शास्त्री तथा पं. नाथूलालजी शास्त्री का भी अनेक मूल्यवान सुझावों तथा अर्थ-बोध के लिए आभारी हूँ। अन्त में भारतीय ज्ञानपीठ के अधिकारियों तथा सहयोगियों का भी आभार है, जिनके माध्यम से यह ग्रन्थ इतने सुन्दर रूप से प्रकाशित हो सका है।

—देवेन्द्रकुमार शास्त्री

---

1. शास्त्री, डॉ. नेमिचन्द्र : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, खण्ड 2, पृ. 214

आइरिय-सिद्धसेण-विरइयं

सम्मइसुत्तं

1

णयकंडयं

सिद्धं सिद्धत्थाणं[1] ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं।
कुसमयविसासणं-सासणं जिणाणं भवजिणाणं ॥1॥

सिद्धं सिद्धार्थानां स्थानमनुपमसुखमुपगतानाम्।
कुसमयविशासनं–शासनं जिनानां भवजिनानाम् ॥1॥

शब्दार्थ–अणोवम–अनुपम; सुहं–सुख (के); ठाणं–स्थान को; उवगयाणं–प्राप्त (तथा); भवजिणाणं–संसार को जीतने वाले; जिणाणं–जिनेन्द्र भगवान का; सासणं–शासन; सिद्धत्थाणं–(प्रमाण) प्रसिद्ध अर्थों का; ठाणं–स्थान (है); (और) कुसमय–मिथ्या मत (का); विसासणं–निवारण करने वाला; सिद्धं–(स्वतः) सिद्ध (है)।

जिन-शासन : स्वतः प्रमाण-सिद्ध है :

भावार्थ–जो संसार के दुःखों को जीत कर अनुपम सुख को उपलब्ध हो चुके हैं, उन जिनेन्द्र भगवान का प्रमाण-प्रसिद्ध अर्थों का स्थान जिन-शासन स्वतः सिद्ध है। वह मिथ्यामतों का खण्डन करने वाला है।

जिन-शासन स्वतः प्रमाण इसलिए है कि वह वीतरागी देव द्वारा प्रकाशित है। कोई भी जीव स्वयं वीतरागी बन कर प्रमाणित कर सकता है। अतः प्रमाण वीतरागता ही है। राग-द्वेष से रहित अवस्था ही वीतरागता है।

विशेष–ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग मंगल सूचक है। ग्रन्थ-कर्ता के नाम का सूचक भी 'सिद्ध' शब्द कहा जाता है।

---

1. ब' सिद्धट्ठाणं।

समयपरमत्थवित्थरविहाडजणपज्जुवासणसयण्णो[1] ।
आगममलारहियओ जह होइ[2] तमत्थमुण्णेसु ॥2॥

समयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्णः ।
आगममन्दहृदयो यथा भवति तमर्थमुन्नेष्ये ॥ 2॥

शब्दार्थ -आगमलारहियओ--आगम (समझने में) मन्द बुद्धि (वालों के लिए यह ग्रन्थ); समयपरमत्थवित्थर--सिद्धान्त (के) परमार्थ (सत्यार्थ) विस्तार (को); विहाड--प्रकट (प्रकाशित करने वाला है); जण--लोग; पज्जुवासण--पर्युपासना (भलीभाँति उपासना में); सयण्ण--सावधान; जह--जैसे (जिस तरह से); होइ--हो (जायें); (वैसे ही) तमत्थ-मुण्णेसु--उस अर्थ को कहूँगा।

यह रचना मन्द-बुद्धि वालों के लिए :

भावार्थ--अनेकान्तमयी जिनवाणी अति गहन व गम्भीर है। अल्प बुद्धि वाले इसे समझ नहीं पाते। इसलिए उनको समझाने व सावधान करने के लिए जिस तरह से लोग समझ सकें और उपासना कर सकें, वैसे ही विस्तृत आगम-सिद्धान्त को प्रकट करने वाले इस ग्रन्थ को कहूँगा। श्रुत-केवलियों के व्याख्यान को इस प्रकार समझाऊँगा कि तत्त्व में अरुचि रखने वाले भी रुचिपूर्वक उसे ग्रहण कर सकें।

तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी[3] ।
दव्वट्ठियो य पज्जवणयो य सेसा वियप्पा सिं ॥3॥

तीर्थङ्करवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकरणौ ।
द्रव्यार्थिकश्च पर्यवनयश्च शेषा विकल्पास्तयोः ॥3॥

शब्दार्थ--तित्थयरवयण--तीर्थंकर (के) वचन (वचनों का); संगह-संग्रह (सामान्य और); विसेस--; पत्थार-प्रस्तार (के); मूलवागरणी--मूल व्याख्याता; दव्वट्ठियो--द्रव्यार्थिक (नय); य--और; पज्जवणयो--पर्यायार्थिक नय (मूल में दो नय हैं); य--और; सेसा--शेष (नय); सिं--उन (दोनों नयों के); वियप्पा--विकल्प (हैं, भेद हैं)।

तीर्थंकर-वाणी : सामान्य-विशेषात्मक :

भावार्थ--तीर्थंकरों के वचन सामान्य-विशेषात्मक हैं। वे सामान्य रूप से द्रव्य के

1. अ° सयन्नो, ब° सयण्हो।
2. ब° होंति।
3. स° मूलवागरणा।

प्रतिपादक हैं और विशेष रूप से पर्याय के। द्रव्यार्थिक (निश्चय या परमार्थ) और पर्यायार्थिक (व्यवहार) नयों (सापेक्ष दृष्टियों) से मूल वस्तु की व्याख्या की गयी है। शास्त्रों में जिन सात नयों का वर्णन मिलता है, वह इन दो नयों का विस्तार है। सभी नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में गर्भित हैं। इनमें द्रव्यार्थिक नय का विस्तार नैगम, संग्रह एवं व्यवहार रूप है तथा पर्यायार्थिक नय का विस्तार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत रूप है। मूल में जिनवाणी का विवेचन करने वाले ये दो ही नय हैं।

दव्वट्ठियणयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ।
पडिरूवे पुण वयणत्थणिच्छओ तस्स[1] ववहारो ॥4॥

द्रव्यार्थिकनयप्रकृतिः शुद्धा संग्रहप्ररूपणाविषयः।
प्रतिरूपे पुनर्वचनार्थनिश्चयस्य तस्य व्यवहारः ॥4॥

शब्दार्थ—संगहपरूवणाविसओ—संग्रह (नय की) प्ररूपणा (का) विषय; सुद्धा-शुद्ध; दव्वट्ठियणयपयडी—द्रव्यार्थिक नय (की) प्रकृति (है); पडिरूवे—प्रतिरूप में (प्रत्येक वस्तु-रूप में); पुण—फिर; वयणत्थ—वचन (के) अर्थ (का) णिच्छओ—निश्चय; तस्स—उस (संग्रह नय) का; ववहारो—व्यवहार (है)।

संग्रहनय की सत्ता :

भावार्थ—संग्रहनय की प्ररूपणा का विषय द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है। इसका अर्थ यह है कि संग्रहनय की विषयभूत केवल एक सत्ता है जो परसत्ता और अपरसत्ता के भेद से दो प्रकार की है। जो सम्पूर्ण पदार्थों में रहती है वह अपरसत्ता है। संग्रहनय इन दोनों में से एक ही सत्ता को विषय कर उसका कथन करता है। यही द्रव्यार्थिकनय की शुद्ध प्रकृति है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के विचार में जो उस-उस वचन के अर्थ (वाच्य) का निश्चय होता है, वह उस संग्रहनय का व्यवहार है। इसी प्रकार पर्यायार्थिकनय की शुद्ध प्रकृति व्यवहार नय रूप है। लोक में व्यवहार व्यवहारनय के आलम्बन से होता है; संग्रहनय के आलम्बन से नहीं। यहाँ नैगमनय को द्रव्यार्थिकनय की शुद्ध प्रकृति में ग्रहण नहीं करने का कारण उस नय की मिश्रित दृष्टि है। जिस प्रकार नैगम नय का विषय सामान्य रूप होता है, उसी प्रकार विशेष रूप भी होता है। एक ही विषय रूप वाली उसकी दृष्टि नहीं है।

---

1. ब' 'तस्स' के स्थान पर 'सेस'।

मूलणिमेणं[1] पज्जवणयस्स उज्जुसुयवयणविच्छेदो[2]।
तस्स उ सद्दाईआ[3] साहपसाहा सुहुमभेया ॥5॥

मूलनिमानं (स्थानं) पर्यवनयस्य ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः।
तस्य तु शब्दादिकाः शाखाप्रशाखाः सूक्ष्मभेदाः ॥5॥

शब्दार्थ—उज्जुसुयवयणविच्छेदो—ऋजुसूत्रनय (का) वचन-व्यवहार (ही); पज्जवणयस्स—पर्यायार्थिक नय का; मूलणिमेणं—मूल स्थान (है); सद्दाईआ—शब्दादिक (शब्दनय, समभिरूढ़नय, एवंभूतनय); उ—तो; तस्य—उस (ऋजुसूत्रनय) के; साहपसाहा—शाखा-प्रशाखा (रूप); सुहुमभेया—सूक्ष्म भेद (हैं)।

पर्यायार्थिकनय का मूल :

भावार्थ—पर्यायार्थिकनय का मूल आधार ऋजुसूत्रनय है। ऋजुसूत्रनय के अनुसार एक समयवर्ती पदार्थ की अवस्था ही पर्याय है। इसलिए यह नय केवल वर्तमान पर्याय का विषय बनता है। भूतकालिक तथा भविष्यत्कालीन पर्याय का वचन-व्यवहार करने हेतु यह नय समर्थ नहीं है। शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय—ये सभी सूक्ष्म भेद एक ऋजुसूत्रनय रूपी वृक्ष की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। जिस प्रकार नैगमनय की अपेक्षा संग्रहनय का विषय सूक्ष्म है, वैसे ही संग्रहनय से व्यवहारनय में, व्यवहारनय से ऋजुसूत्रनय में, ऋजुसूत्रनय से शब्दनय में, शब्दनय से समभिरूढ़नय में और उसकी अपेक्षा एवंभूतनय में विषय की सूक्ष्मता है।

णामं ठवणा दविए त्ति एस[4] दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो[5]।
भावो उ पज्जवट्ठियस्स पऱूवणा[6] एस परमत्थो ॥6॥

नाम-स्थापना-द्रव्यमिति एष द्रव्यार्थिकस्य निक्षेपः।
भावस्तु पर्यायार्थिकस्य प्ररूपणा एष परमार्थः ॥6॥

शब्दार्थ—णामं—नाम; ठवणा—स्थापना; दविए—द्रव्य (निक्षेप); त्ति—इस प्रकार; एस—यह (ये); (तीनों निक्षेप); दव्वट्ठियस्स—द्रव्यार्थिक (नय) के; णिक्खेवो—निक्षेप (हैं); उ—किन्तु; भावो—भाव (निक्षेप); पज्जवट्ठियस्स—पर्यायार्थिक (नय) की; पऱूवणा—प्ररूपणा (कथनी); (होने से); एस—यह; परमत्थो—परमार्थ (है)।

---

1. प्र° मूल निमाणं।
2. बि° विच्छेवो।
3. स° सद्दाईया।
4. ब° तिएसु।
5. स° णिक्खेओ।
6. ब° पज्जवट्ठिठअपरूवणा।

निक्षेप : लोक-व्यवहार

भावार्थ—जिस से लोक का व्यवहार चलता है, उसे निक्षेप (विषय) कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ का व्यवहार चार प्रकार से होता है। ये चार प्रकार हैं : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इन में से प्रथम तीन—नाम, स्थापना और द्रव्य ये द्रव्यार्थिक नय के निक्षेप हैं, किन्तु जो भाव निक्षेप है वह पर्यायार्थिक नय की चर्चा रूप है। यही इनका परमार्थ है अर्थात् वास्तविकता है। नाम से नाम वाला, स्थापना तथा स्थापना वाला, द्रव्य एवं द्रव्यवान ये परस्पर भिन्न नहीं हैं। अतः अभेद होने से ये तीनों द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं। किन्तु प्रत्येक समय से भाव में भिन्नता होने से भाव निक्षेप पर्याय रूप है। अतएव भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है।
उक्त गाथा 'षट्खण्डागम', जीवस्थान 1, 1, 1, गा. 9 तथा 1, 3, 1 में एवं 'जयधवला' टीका ग्रन्थ 1, पृ. 260 पर "उत्तं च सिद्धसेणेण" कथन में उद्धृत की गई है।

पज्जवणिस्सामण्णं[1] वयणं दव्वट्ठियस्स अत्थि त्ति।
अवसेसो[2] वयणविही[3] पज्जवभयणा सपडिवक्खो[4] ॥ 7॥

पर्यवनिस्सामान्यं वचनं द्रव्यार्थिकस्य अस्तीति।
अवशेषो वचनविधिः पर्यवभजनात् सप्रतिपक्षः ॥7॥

शब्दार्थ—अत्थि—है (सत्); त्ति—यह (वचन); पज्जवणिस्सामण्णं—पर्याय (से) रहित सामान्य (विशेष से सर्वथा रहित); दव्वट्ठियस्स—द्रव्यार्थिक (नय) का; **वयण—वचन** (विषय है); **पज्जवभयणा**—पर्याय (के) विभाग से; अवसेसो—बाकी सब; वयणविही—वचनविधि (कथन-प्रकार); सपडिवक्खो—प्रतिपक्षी (सापेक्ष है)।

दोनों नयों का विषय :

भावार्थ—अध्यात्मशास्त्र में सात नयों में दो प्रमुख माने गये हैं—द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। द्रव्यार्थिकनय अभेद रूप तथा सामान्य कथन करता है, किन्तु पर्यायार्थिकनय का विषय भेद रूप पर्याय की विशेषताओं का कथन करना है। अस्तित्वमूलक 'अस्ति' वचन-भेद-पर्याय से रहित होने के कारण द्रव्यार्थिकनय के आश्रित है। परन्तु इसके अतिरिक्त जीव है, अजीव है, मनुष्य है, पशु है, पक्षी है,

---

1. द° पज्जवणीसामन्नं।
2. स° अवसेसा।
3. स° वयणविहा।

इत्यादि वचन-भेद किसी स्वतन्त्र नय के अधीन न हो कर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों के आश्रित हैं। क्योंकि इन वचनों से अवान्तर सामान्य कथन के साथ ही विशेष भेद रूप पर्याय का भी कथन किया जाता है। ये दोनों ही एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। परस्पर सापेक्ष होने के कारण ही ये नय हैं।

पज्जवणयवोक्कंतं वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं।
जाव दविओवओगो अपच्छिमवियप्पणिव्वयणो ॥8॥

पर्यायनयव्युत्क्रान्तं वस्तु द्रव्यार्थिकस्य वचनीयम्।
यावद्द्रव्योपयोगोऽपश्चिमविकल्पनिर्वचनः ॥8॥

शब्दार्थ—जाव—जब तक; अपच्छिमवियप्पणिव्वयणो—अन्तिम विकल्प (और) वचन-व्यवहार (रूप); दवियओवओगो—द्रव्योपयोग (है) (ताव-तब तक); पज्जवणयवोक्कंतं—पर्यायार्थिकनय (से) अतिक्रान्त; वत्थुं—वस्तु को; दव्वट्ठियस्स—द्रव्यार्थिक (नय) की; वयणिज्जं—वाच्य (जानो)।

नय : एक-दूसरे से अतिक्रान्त

भावार्थ—जहाँ तक सामान्य भाव-बोध है, वहाँ तक द्रव्यार्थिक नय का विषय है। सत्ता सामान्य के विषय में जब तक पर्याय सम्बन्धी विकल्प तथा वचन-व्यवहार उत्पन्न नहीं होता, तब तक पर्यायार्थिकनय से अतिक्रान्त वस्तु द्रव्यार्थिकनय की वाच्य है। तात्पर्य यह है कि अन्तिम विशेष से सामान्य उपयोग सम्भव नहीं होने से वह द्रव्यार्थिकनय का विषय नहीं है, किन्तु महासत्ता (सामान्य सत्ता) द्रव्यार्थिकनय का ही विषय है तथा मध्यवर्ती जितनी अवान्तर सत्ताविशिष्ट पदार्थमाला है, वह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों में आश्रित है। द्रव्यार्थिकनय जब सर्वव्यापक सत्ता सामान्य को विषय करता है, तब दृष्टिगत विशेष को उपेक्षित कर देता है। इसी प्रकार जब पर्यायार्थिकनय वस्तुगत विशेष को विषय करता है, तब सत्ता सामान्य को गौण कर देता है। अतः अन्तिम विशेष के अतिरिक्त सभी विषय उभयनय-सामान्य हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि अपने-अपने विषय की मर्यादा में एक नय का दूसरे नय में प्रवेश होना सम्भव है, किन्तु अन्तिम विशेष में यह सम्भव नहीं है। सामान्यतः एक नय दूसरे नय से अतिक्रान्त होता है। परन्तु कोई भी नय सत्ता विशेष या सत्ता सामान्य का लोप नहीं करता, बल्कि उसकी उपेक्षा कर देता है।

दव्वट्ठियो त्ति तम्हा णत्थि णओ[1] णियमसुद्धजाईओ।
ण य पज्जवट्ठियो णाम कोइ भयणाय उ विसेसो ॥9॥

1. अ, ब' णओ।

द्रव्यार्थिक इति तस्मान् नास्ति नयो नियमशुद्धजातीयः।
न च पर्यायार्थिको नाम कोऽपि भजनाय तु विशेषः ॥9॥

शब्दार्थ—तम्हा—इसलिए; णियमसुद्धजाईओ—नियम (से) शुद्ध जातीय; दव्वट्ठियो—द्रव्यार्थिक; णयो—नय; णत्थि—नहीं है; ति—इसी प्रकार; कोइ-कोई; पज्जवट्ठियो—पर्यायार्थिक; णाम—नाम (नहीं है); उ—किन्तु; विसेसो—विशेष (विवक्षा) भयणाय—विभाग (करने के) लिए (है)।

कोई नय शुद्ध जाति वाला नहीं

भावार्थ—द्रव्यनिरपेक्ष पर्याय और पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य नहीं है। इसलिए कोई भी नय शुद्ध जाति वाला नहीं है। द्रव्यार्थिकनय भी शुद्ध जातीय नहीं है। इसी प्रकार पर्यायार्थिकनय भी शुद्ध जातीय नहीं है। कोई भी नय अपने विरोधी नय के विषय के स्पर्श से रहित नहीं है। इसलिए इन दोनों नयों में विषय-भेद के कारण सर्वथा भेद नहीं है। वस्तुतः वस्तु जैसी है, वैसी ही है। विवक्षा वश वस्तु के कथन में भेद किया जाता है। किन्तु वस्तु में कोई भेद नहीं है। यहाँ पर द्रव्यार्थिकनय को शुद्ध जातीय इसलिये नहीं कहा है कि मूल अखण्ड द्रव्य पर्याय से रहित है। इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय का विषय भी द्रव्य रहित नहीं है। फिर, वे विरोधी नय के विषय के स्पर्श से भी रहित नहीं हैं। क्योंकि सामान्य विशेष के बिना और विशेष सामान्य के बिना कभी भी नहीं पाया जाता है।

दव्वट्ठियवत्तव्वं अवत्थुणियमेण पज्जवणयस्स[1]।
तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥10॥

द्रव्यार्थिकवक्तव्यमवस्त्व-नियमेन पर्यवनयस्य।
तथा पर्यायवस्त्ववस्तैव द्रव्यार्थिकनयस्य ॥10॥

शब्दार्थ—दव्वट्ठियवत्तव्वं—द्रव्यार्थिक (नय का) वक्तव्य; पज्जवणयस्स—पर्यायार्थिक नय के (लिए); णियमेण—नियम से; अवत्थु—अवस्तु (है); तह—उसी प्रकार (से); दव्वट्ठियणयस्स—द्रव्यार्थिक नय के (लिए); पज्जववत्थु—पर्यायार्थिक (की) वस्तु; अवत्थुमेव—अवस्तु ही (है)।

दोनों नय परस्पर विरुद्ध :

भावार्थ—द्रव्यार्थिक नय का वक्तव्य (सामान्य कथन) पर्यायार्थिक नय के लिए

1. ब, स' "पज्जवणयस्स" के स्थान पर "होइ पज्जाए"।

नियम से अवास्तविक है। इसी प्रकार पर्यायार्थिकनय की विषय-वस्तु (विशेष-विकल्प) द्रव्यार्थिकनय के लिए अवास्तविक ही है। विवक्षा-भेद से दोनों नयों के विषय में भिन्नता है। दोनों ही नय एक ही वस्तु के विभिन्न रूपों का स्पर्श करते हैं। यद्यपि द्रव्यार्थिकनय पर्यायार्थिकनय रूप हो सकता है और पर्यायार्थिक नय का द्रव्यार्थिक रूप होना सम्भव है। क्योंकि एक भेद का विषय के साथ दूसरे नय का विषय भी संस्पृष्ट है। फिर भी, द्रव्यार्थिकनय जिसे सामान्य मानता है, पर्यायार्थिकनय उसे विशेष मानता है। अतएव एक-दूसरे के विषय को अवस्तु मानने के कारण ये दोनों भिन्न हैं।

उप्पज्जंति वियंति[1] य भावा णियमेण पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥11॥

उत्पद्यन्ते वियन्ति च भावा नियमेन पर्यवनयस्य।
द्रव्यार्थिकस्य सर्वं सदानुत्पन्नमविनष्टम् ॥11॥

शब्दार्थ—पज्जवणयस्स—पर्यायार्थिक नय की (दृष्टि में); भावा-पदार्थ; णियमेण—नियम से; उप्पज्जंति—उत्पन्न होते हैं; वियंति—नष्ट होते हैं; य—और; दव्वट्ठियस्स—द्रव्यार्थिक (नय) की (दृष्टि में); सया—सदा; सव्वं—सभी (पदार्थ); अणुप्पण्णमविणट्ठं—न उत्पन्न होते (हैं और) न नष्ट होते (हैं)।

और भी :

भावार्थ--प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। जिस में परिवर्तन नहीं होता, वह वस्तु नहीं है। पर्यायार्थिकनय के अनुसार सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं। पदार्थ अर्थक्रियाकारी है। अर्थक्रियाकारिता होना यही पदार्थ की परिणमनशीलता है। किन्तु द्रव्यार्थिकनय के अनुसार सभी पदार्थ न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं। वे ध्रुव हैं, नित्य हैं। पदार्थ मूल रूप में सदा पदार्थ रहता है। कूटस्थ नित्य पदार्थ में किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं हो सकती। अतः 'सत्' वह कहा गया है जो अर्थक्रियाकारी है। द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में परिणमनशीलता तो है, किन्तु उसकी दृष्टि केवल द्रव्य पर ही रहती है।

दव्वं पज्जवविउयं[2] दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पायट्ठिइभंगा[3] हंदि दवियलक्खणं एयं ॥12॥

द्रव्यं पर्यायवियुक्तं द्रव्यवियुक्ताश्च पर्याय नास्ति।
उत्पादस्थितिभङ्गाः सन्ति द्रव्यलक्षणमेतत् ॥12॥

---

1. ब° यंति।
2. ब° पज्जवविज्जुअं।
3. ब° उप्पायट्ठिइभगा।

शब्दार्थ—पज्जवविउयं—पर्याय (से) रहित; दव्वं—द्रव्य; य—और; दव्वविउत्ता—द्रव्य (से) अलग; पज्जवा—पर्याय; णत्थि—नहीं (है); उप्पायट्ठिइभंगा—उत्पाद, स्थिति (और) व्यय (से युक्त वस्तु) के कथन-प्रकार से; हंदि—निश्चय (से); एयं—यह; दवियलक्खणं-द्रव्य (का) लक्षण (है)।

द्रव्य का लक्षण :

भावार्थ—द्रव्य का स्वरूप नित्यानित्यात्मक है। कोई द्रव्य नित्य तथा कोई द्रव्य अनित्य मात्र नहीं है। क्योंकि पर्याय से रहित कोई द्रव्य नहीं है। और द्रव्य से विहीन पर्याय नहीं है। पर्यायवान् द्रव्य उत्पत्ति, स्थिति और विनाशशील है। इसलिये उत्पाद, स्थिति और व्यय इन तीनों से युक्त द्रव्य का लक्षण कहा गया है। द्रव्य का लक्षण 'सत्' है और 'सत्' उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यात्मक होता है। अतएव इन तीनों से युक्त द्रव्य है। ये तीनों विभाग रहित हैं; क्योंकि द्रव्य एवं पर्याय का अविनाभाव सम्बन्ध है। इसलिए भिन्न-भिन्न निमित्तों के संयोग से वस्तु भिन्न-भिन्न रूपों में परिणमती रहती है; किन्तु अपने मूल रूप का कदापि त्याग नहीं करती।

एए पुण संगहओ पाडिक्कमलक्खणं दुवेण्हं[1] पि[2]।
तम्हा मिच्छादिट्ठो[3] पत्तेयं दो वि मूलणया ॥13॥

एते पुनः संग्रहतः प्रत्येकमलक्षणं द्वयोरपि।
तस्मान् मिथ्यादृष्टी प्रत्येकं द्वावपि मूलनयौ ॥13॥

शब्दार्थ—एए—ये; पुण—फिर; संगहओ—संग्रह (परस्पर अभिन्न) नय से; दुवेण्हं—दोनों; पि—भी; पाडिक्कमलक्खणं—प्रत्येक अलक्षण (लक्षण वाले नहीं हैं); तम्हा—इसलिए; पत्तेयं—प्रत्येक; दो—दोनों; वि—ही; मूलणया—मूल नय; मिच्छादिट्ठी—मिथ्यादृष्टि (हैं)।

दोनों नय : असत्य दृष्टि ?

भावार्थ—उत्पाद, स्थिति और व्यय ये तीनों अपृथक् रूप से रहते हैं। एक के बिना दूसरे का सद्भाव नहीं है। इसलिए ये अलग-अलग द्रव्य के लक्षण नहीं कहे गए हैं। दोनों नयों का विषय (सामान्य तथा विशेष) अलग-अलग रूप में द्रव्य (सत्) का लक्षण नहीं बन सकता। अतएव दोनों नय परस्पर निरपेक्ष अवस्था में मिथ्या रूप

1. अ" दुविण्हं।
2. स" वि।
3. अ, ब" मिच्छादिदट्ठी।

(दुर्नय) हैं। परस्पर सामान्य तथा विशेष की सापेक्षता होने पर ही सत् का लक्षण बन सकता है। यदि पर्यायार्थिक नय अपने विषय का प्रतिपादन कर यह मानने लगे कि उसने पूर्णतः सत्य का प्रतिपादन कर दिया है और इसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय भी अपने विषय के प्रतिपादन को पूर्ण तथ्य समझे, तो दोनों की स्वतन्त्र मान्यता मिथ्यादृष्टि रूप है।

ण य तइओ अत्थि णयो ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं[1]।
जेण दुवे एगंता[2] विभज्जमाणा अणेगंतो ॥14॥

न च तृतीयोऽस्ति नयो न च सम्यक्त्वं न तयोः प्रतिपूर्णम्।
येन द्वावेकान्तौ विभज्यमानावनेकान्तौ ॥14॥

शब्दार्थ—य—और; तइओ—तीसरा; णयो—नय; ण—नहीं; अत्थि—है; य—और; तेसु—उन में (उन दोनों नयों में); पडिपुण्णं—परिपूर्ण; सम्मत्तं—सम्यक्त्व (यथार्थपना); णयं—नय; ण—नहीं (है); (ऐसा); ण—नहीं (है); जेण—जिस से; दुवे—दोनों; एंगता—एकान्त (नय); विभज्जमाणा—भजमान (परस्पर सापेक्ष कथन करने पर); अणेगंतो—अनेकान्त (कहे जाते हैं)।

नयों की यथार्थता :

भावार्थ—यदि सामान्य-विशेष से युक्त द्रव्य को युगपत् ग्रहण करने वाला कोई नय होता, तो तीसरा नय मान लिया जाता। परन्तु ऐसा कोई तीसरा नय नहीं है। मूल में दो ही नय हैं। इन दोनों से काम चल जाता है। अपने-अपने विषय को पूर्ण रूप से कहने पर भी ये तब तक एकान्त रहते हैं, जब तक परस्पर सापेक्ष रूप से अपने विषय का कथन नहीं करते। सापेक्ष कथन होने पर इन में अनेकान्त होता है और ये यथार्थ कहे जाते हैं। इस प्रकार ये दोनों नय यथार्थ हैं।

जह एए तह अण्णे पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे[3]।
होंति हु मूलणयाणं पण्णवणे वावडा[4] ते वि ॥15॥

यथैतौ तथाऽन्ये प्रत्येकं दुर्नया नयाः सर्वे।
भवन्ति खलु मूलनयानां प्रज्ञापने व्यापृतास्तेऽपि ॥15॥

शब्दार्थ—जह—जिस तरह; एए—ये (दोनों नय निरपेक्ष होने पर); दुण्णया—दुर्नय

---

1. ब' पडिपुन्नं।
2. ब' एगते।
3. ब' 'सव्वे' के स्थान पर 'अन्ने'
4. ब' 'पन्नवणयावडा'।

(मिथ्या नय) (हैं); तह—उसी तरह; अण्णे—दूसरे; सव्वे—सब; पत्तेयं—प्रत्येक; णया—नय (मिथ्या कहलाते हैं) (क्योंकि); हु—सचमुच; मूलणयाणं—मूल नयों की; पण्णवणे—प्रज्ञापना (विषय के प्रतिपक्ष) में; ते वि—वे भी (अन्य नय भी सापेक्ष हो कर); वावडा—संलग्न; होंति—होते (हैं)।

अलग-अलग नय दुर्नय :

भावार्थ—जिस तरह ये दोनों नय परस्पर एक-दूसरे के विषय को तिरस्कृत कर अपने-अपने विषय के कथन करने में एकान्त होने से मिथ्या कहे जाते हैं, उसी प्रकार दूसरे सभी नय अलग-अलग रहने पर मिथ्यानय माने जाते हैं। किन्तु संग्रहादि नय मूल नयों के विषय का ही सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रतिपादन करने में सापेक्ष हो कर संलग्न रहते हैं। कथन का भाव यही है कि इस प्रकार मूल दो नयों के अतिरिक्त कोई तीसरा नय नहीं है। इनमें से कोई भी नय यदि निरपेक्ष रूप से कथन करता है, तो मिथ्यानय या दुर्नय है।

सव्वणयसमूहम्मि वि णत्थि णयो उभयवायपण्णवओ[1]।
मूलणयाण उ णाअं पत्तेयं विसेसियं बेंति[2] ॥16॥

सर्वनयसमूहेऽपि नास्ति नय उभयवाद-प्रज्ञापकः।
मूलनयाभ्यां तु ज्ञातं प्रत्येकं विशेषितं ब्रुवन्ति ॥16॥

शब्दार्थ—सव्वणयसमूहम्मि—सब नयों (के) समूह में; वि—भी; उभयवायपण्णवओ उभयवाद (का) प्रतिपादक; णयो—नय; णत्थि—नहीं है; उ—किन्तु; मूलणयाण—मूल नयों (के) द्वारा; णाअं—जाने (विषय को); विसेसियं—विशेष (रूप से); पत्तेयं—प्रत्येक (नय); बेंति—कहते हैं।

कोई भी नय उभयवाद का प्रतिपादक नहीं :

भावार्थ—सभी नयों (संग्रह, ऋजुसूत्र आदि) के समूह में भी उभयवाद (सामान्य, विशेष धर्म) को एक साथ बतलाने वाला कोई नय नहीं है। द्रव्यार्थिकनय के भेद अपने विषय को और पर्यायार्थिकनय के भेद पर्यायार्थिकनय के विषय को विशेष रूप से विशद करते हैं। अतः इन में ऐसा कोई नय नहीं है जो सामान्य-विशेष का एक साथ प्रतिपादन कर सके। नयवाद में क्रम से एक-एक धर्म का प्रतिपादन किया जाता है। सभी धर्मों का एक साथ प्रतिपादन करने में कोई भी नय समर्थ नहीं है।

---

1. अ, ब° उभयवायपण्णवओ।
2. स.° बेंति; अ, ब, स बिंति।

अतएव नय न प्रमाण है, न अप्रमाण है; किन्तु सागर के एक तट की भाँति प्रमाण का एकदेश-स्वरूप है।

ण य दव्वट्ठियपक्खे संसारो णेव पज्जवणयस्स।
सासयवियत्तिवाई जम्हा उच्छेयवाईय[1] ॥17॥

न च द्रव्यार्थिकपक्षे संसारो नैव पर्यवनयस्य।
शाश्वतव्यक्तिवादी यस्मात् उच्छेदवादी च ॥17॥

शब्दार्थ—दव्वट्ठियपक्खे—द्रव्यार्थिक (नय के) पक्ष (मत) में; संसारो—संसार; ण—नहीं (है); य—और; पज्जवणयस्स—पर्यायार्थिक नय के (पक्ष में भी संसार); णेव—नहीं (है); जम्हा—जिस कारण (क्योंकि);—(द्रव्यार्थिक नय)—सासयवियत्तिवाई—शाश्वत (नित्य) व्यक्तिवादी (है); य—और (दूसरा); उच्छेयवाई—उच्छेदवादी (नाशवादी) (है)।

दोनों नयों की एकान्त दृष्टि में संसार नहीं :

भावार्थ—द्रव्यार्थिकनय की एकान्त मान्यता के अनुसार जीव द्रव्य नित्य है, इसलिए अपरिणामी है और अपरिणामी होने से उसके संसार नहीं बनता है। इसी प्रकार पर्यायार्थिकनय के मत में मूल वस्तु (आत्मा) का विनाश मानने से सुख-दुःख, जन्म-मरण, राग-द्वेषादि रूप संसार नहीं होगा। अतः द्रव्यार्थिकनय नित्यव्यक्तिवादी है और पर्यायार्थिकनय उच्छेदवादी या क्षणिकवादी है। दोनों के एकान्त मत में संसार की स्थिति नहीं बनती है। इसलिए दोनों की एकान्त मान्यता उचित नहीं है।

सुह[2] दुक्खसंपओगो ण जुज्जए[3] णिच्चवायपक्खम्मि।
एगंतुच्छेयम्मि य सुहदुक्खवियप्पणमजुत्तं ॥18॥

सुखदुःखसंप्रयोगो न युज्यते नित्यवादपक्षे।
एकान्तोच्छेदे च सुखदुःखविकल्पनमयुक्तम् ॥18॥

शब्दार्थ—णिच्चवायपक्खम्मि—नित्यवाद पक्ष में; सुहदुक्खसंपओगो—सुख—दुःख (का) सम्बन्ध; ण—नहीं; जुज्जए—जोड़ा जा सकता (है); य—और; एगंतुच्छेयम्मि—एकान्त (के) उच्छेद (क्षणिकवाद) में (भी); सुहदुक्खवियप्पणमजुत्तं—सुख-दुःख (का) विकल्प करना अयुक्त (नहीं बनता) है।

---

1. पूर्व प्रकाशित पाठ 'उच्छेअवाईआ'।
2. अ° सुख
3. ब° जुज्जई।

नित्य और अनित्य दोनों पक्षों में सुख-दुःख नहीं :

भावार्थ—एकान्त से नित्यवादी पक्ष में सुख-दुख का अस्तित्व नहीं हो सकता है और इसी प्रकार से सर्वथा अनित्यवादी पक्ष में भी सुख-दुःख की कल्पना नहीं की जा सकती।

विशेष—नित्यवादियों के अनुसार नित्य का लक्षण है—'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्' अर्थात् जो अपने रूप से हटता नहीं है, जो उत्पन्न नहीं होता, जिसमें परिवर्तन नहीं होता और जो सदा एक रूप रहता है, उसे नित्य कहते हैं। इस प्रकार नित्यवादी वस्तु में परिणमन नहीं मानते। वस्तु में परिवर्तन नहीं होने से उसमें सुख-दुःख का परिणमन कैसे हो सकता है ? इसलिए एकान्त नित्य मानने से आत्मा में सुख-दुःख की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अनित्य पक्ष में वस्तु प्रति क्षण उत्पन्न तथा नष्ट होती रहती है। इसलिए मैं पहले सुखी था, अब दुखी हूँ, ऐसा सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जा सकता है ? क्योंकि ध्रुवत्व के अभाव में अनुसन्धान रूप प्रत्यय नहीं हो सकता है। इतना ही नहीं, किए हुए कर्मों के फल को न भोगने का, अकृत कर्मफल भोगने का, परलोक के नाश होने का और स्मरणशक्ति के अभाव का भी दूषण लगता है।

कम्मं जोगणिमित्तं बज्झइ बंधट्ठिई कसायवसा।
अपरिणउच्छिण्णेसु य बंधट्ठिई[1] कारणं णत्थि ॥19॥

कर्म योगनिमित्तं बध्यते बन्धस्थितिः कषायवशात्।
अपरिणतोच्छिन्नयोश्च बन्धस्थितिः कारणं नास्ति ॥19॥

शब्दार्थ—जोगणिमित्तं—योग (मन, वचन और शरीर के व्यापार से आत्मप्रदेशों में स्थित शक्ति विशेष से होने वाले परिस्पन्दन) निमित्त (साधन) (से); कम्मं—कर्म; बज्झइ—ग्रहण (किया जाता है); कसायवसा—कषाय (क्रोध, अहंकार, माया और लोभ) (के) अधीन (सामर्थ्य) से; बंधट्ठिई—बन्ध (की) स्थिति (निर्मित होती है); अपरिणउच्छिण्णेसु—उपशान्त कषाय तथा क्षीणकषाय दशा में सर्वथा नित्य-अनित्य अवस्था (में); य—और; बंधट्ठिई—बन्धस्थिति (का); कारण (निमित्त); णत्थि—नहीं (है)।

एकान्त मान्यता में कर्मबन्ध व स्थिति नहीं :

भावार्थ—मन, वचन और शरीर के व्यापार से उत्पन्न तथा आत्मा की योग-शक्ति विशेष से आत्म-प्रदेशों में हलन-चलन रूप योग से कर्म ग्रहण किए जाते हैं तथा क्रोध, अहंकार, माया और लोभ रूप कषाय से बन्ध की स्थिति निर्मित होती है।

---

1. ब' बंधठिईकारणं।

परन्तु उपशान्त कषाय तथा क्षीणकषाय (ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में) की अवस्था में कर्मबन्ध की स्थिति का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता।

विशेष—कर्मबन्ध चार प्रकार का कहा गया है:—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनमें से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध मन, वचन, शरीर के योग (परिस्पन्द, हलन-चलन) से होते हैं और स्थितिबन्ध एवं अनुभागबन्ध कषाय (क्रोध, अहंकार, माया, लोभ) से होते हैं। आत्मा को सर्वथा शुद्ध, बुद्ध, नित्य व अपरिणामी मानने वाले उसे विकारयुक्त कैसे मान सकते हैं ? क्योंकि वे विकार का कारण निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं मानते हैं। इसी प्रकार क्षणिकवादियों के पक्ष में आत्मा में स्थिरता नहीं होने के कारण कर्मबन्ध की स्थिति नहीं बन सकती है।

बंधम्मि अपूरंते संसारभओघदंसणं[1] मोज्झं।
बंधे व[2] विणा मोक्खसुहपत्थणा णत्थि मोक्खो य[3] ॥20॥

बन्धेऽपूर्यन्ति संसारभयौघदर्शनं मोघम्।
बन्धमेव विना मोक्षसुखप्रार्थना नास्ति मोक्षश्च ॥20॥

शब्दार्थ—बंधम्मि—बन्ध (की) में; अपूरंते—पूर्ति हुए (बिना); संसारभओघदंसणं—संसार (में) भव-समूह (विविधता का) दर्शन; मोज्झं—व्यर्थ (है); बंधं—बन्ध (के); व—ही; विणा—बिना; मोक्खसुहपत्थणा—मोक्षसुख (की) प्रार्थना (अभिलाषा); य—और; मोक्खो—मोक्ष; णत्थि—नहीं (है)।

बन्ध के बिना मोक्ष भी नहीं :

भावार्थ—यदि जीव के साथ कर्म नहीं बँधते हैं, तो कर्म के कारण उत्पन्न होने वाले संसार के विपुल भयों को दिखाना व्यर्थ है। कर्मों के बिना बँधे उनकी मुक्ति नहीं होती। इसलिए बन्ध के बिना मोक्ष के सुख की अभिलाषा और मोक्ष दोनों ही नहीं हो सकते। अतएव जीव स्वयं कर्मों के साथ बँधता है और स्वयं पुरुषार्थ करके कर्मों से छूटता है। "जीव कर्मों के साथ बंधता है"—यह मान लेने पर "स्वाभाविक रूप से मुक्ति होती है" कर्म-क्लेश से छुटकारा होता है—यह स्थिति भी सिद्ध हो जाती है।

तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी[3] सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥21॥

---

1. ब' भओहदंसणं; स' संसारभओवदंसणं।
2. ब, स' 'व' के स्थान पर 'च' पाठ है।
3. ब' मिच्छादिट्ठदिट्ठी।

तस्मात् सर्वेऽपि नया मिथ्यादृष्टयः स्वपक्षप्रतिबद्धाः।
अन्योन्यमिश्रिताः पुनर्भवन्ति सम्यक्त्वसद्भावाः ॥21॥

शब्दार्थ—तम्हा—इसलिए; सव्वे—सब; वि—ही; णया—नय; सपक्खपडिबद्धा—अपने (अपने) पक्ष (एकान्त में) संलग्न; मिच्छादिट्ठी—मिथ्या रूप (हैं); उण-फिर; (वे ही) अण्णोण्ण—एक-दूसरे (परस्पर) (के); णिस्सिया—पक्षपाती (सापेक्ष); सम्मत्तसब्भावा—सम्यक् रूप (वाले) हवंति—होते (हैं)।

नय भी मिथ्या और सम्यक् :

भावार्थ—अपने-अपने पक्ष का कथन करने में संलग्न सभी निरपेक्ष नय मिथ्यादृष्टि हैं। जब कोई दृष्टि दूसरे का निराकरण करती हुई अपने विषय की पुष्टि करती है, तब निरपेक्ष कथन करने के कारण मिथ्या कही जाती है। किन्तु जब वही दूसरे के विषय का निराकरण नहीं करती हुई परस्पर सापेक्ष दृष्टि से प्रतिपादन करती है, तब सम्यक् होती है।

विशेष—सूत के धागे जब तक अलग-अलग रहते हैं, तब तक परस्पर मिले बिना वस्त्र तैयार नहीं होता। किन्तु परस्पर में एक-दूसरे का अवलम्बन लेने पर या सापेक्ष होने पर वे भी धागे अन्वित हो कर वस्त्र की अर्थक्रिया को सम्पन्न करते हैं। इसी प्रकार दोनों नयों के परस्पर सापेक्ष होने पर ही अर्थज्ञान कार्यकारी होता है।

जह णेग[1] लक्खणगुणा वेरुलियाई मणी[2] विसंजुत्ता।
रयणावलिववएसं ण लहंति महग्घमुल्ला वि ॥22॥

यथानेकलक्षणगुणा वैडूर्यादिमणयो विसंयुक्ताः।
रत्नावलिव्यपदेशं न लभन्ते महर्घमूल्या अपि ॥22॥

शब्दार्थ—जह—जिस प्रकार; णेग—अनेक; लक्खणगुणा—लक्षण (और) गुण (वाले); वेरुलियाई मणी—वैडूर्य मणि; महग्घमुल्ला—बहुत मूल्य (वाले); वि—भी; विसंजुत्ता—बिखरे हुए (पिरोये हुए, संयुक्त नहीं होने से); रयणावलिववएसं—रत्नावली नाम (व्यवहार को); ण—नहीं; लहंति—प्राप्त (करते) हैं।

समन्वित ही सुनय :

भावार्थ—अनेक लक्षण तथा गुणों से सुसम्पन्न वैडूर्य आदि मणि बहुमूल्य होने पर

1. प्रकाशित 'णेग' के स्थान पर 'णेय' है। अ' णेय।
2. ब' गुणगणवेरुलिआइमणी।

भी बिखरी हुई अवस्था में 'रत्नावली' नहीं कहलाते। मणि या रत्नों के दाने धागे में पिरोये जा कर समन्वित स्थिति में ही हार कहलाते हैं। जिस प्रकार रत्नादि अलग-अलग अवस्था में स्वतन्त्र रूप से 'हार' नहीं कहे जाते, उसी प्रकार निरपेक्ष अवस्था में ये नय सुनयों के द्वारा साध्य अर्थक्रिया करने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं। किन्तु रत्नों की भाँति समन्वित होने पर ये 'दुर्नय' नाम का त्याग कर 'सुनय' नाम को प्राप्त होते हैं।

तह णियवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्णपक्खणिरवेक्खा।
सम्मद्दंसणसद्दं सव्वे वि णया ण पावेंति[1] ॥23॥

तथा निजकवाद-सुविनिश्चता अप्यन्योन्यपक्षनिरपेक्षाः।
सम्यग्दर्शनशब्दं सर्वेऽपि नया न प्राप्नुवन्ति ॥23॥

शब्दार्थ—तह—उसी प्रकार; णियवायसुविणिच्छिया—अपने (अपने) वाद (पक्ष में) सुनिश्चित (होने पर); वि भी; अण्णोण्णपक्खणिरवेक्खा—एक-दूसरे (के) पक्ष (के साथ) निरपेक्ष (होने से); सव्वे—सब; वि—ही; णया—नय; सम्मद्दंसणसद्दं—सम्यक्दर्शन शब्द को; ण—नहीं; पावेंति—पाते हैं।

सापेक्ष नय : सुनय :

भावार्थ—जिस प्रकार धागे में पिरोये हुए मणि के दाने ही हार कहे जाते हैं, उसी प्रकार अपने-अपने पक्ष में सुनिश्चित होने पर ही सभी सापेक्ष नय सम्यग्दर्शन या सुनय नाम को प्राप्त करते हैं। निरपेक्ष नय सुनय नहीं कहे जाते हैं। क्योंकि निरपेक्ष अवस्था में ये नय सम्यक् रूप से कार्यकारी नहीं होते।

जह पुण ते चेव मणी जहागुणविसेसभागपडिबद्धा[2]।
रयणावलि त्ति भण्णइ जहंति[3] पाडिक्कसण्णाओ ॥24॥

यथा पुनस्ते चैव मणयों यथागुणविशेषभागप्रतिबद्धाः।
रत्नावलीति भण्यते जहाति प्रत्येकसंज्ञाः ॥24॥

शब्दार्थ—जह—जैसे; पुण—फिर; ते-वे; चेव—ही; मणी-मणियाँ; जहागुणविसेसभाग

1. ब° पावंति।
2. स° जहागुणविसेसभासपडिबद्धा।
3. ब° जह तं।

पडिबद्धा—जहाँ (जब) धागे विशेष (में) पिरो (दी जाती हैं तो); रयणावलि—रत्नावली (रत्नों का हार); त्ति—यह; भण्णइ—कही जाती (है); (और) पाडिक्कसण्णाओ—प्रत्येक (अपने-अपने) संज्ञा (नाम को, मणि इस नाम को); जहंति—छोड़ देती (हैं)।

और :

भावार्थ—मणि के दाने जब धागे में पिरो दिए जाते हैं, तब वे अपना मणि नाम छोड़ कर 'रयणावली' यानी रत्नावली (रत्नहार) कहलाती है। कहने का अर्थ यही है कि धागे में संलग्न होकर प्रत्येक मणि का दाना हार बन जाता है। सभी सामान्य रूप से उसे हार ही कहते हैं।

तह सव्वे णयवाया[1] जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा।
सम्मद्दंसणसद्दं लहंति ण विसेससण्णाओ[2] ॥25॥

तथा सर्वे नयवादा यथानुरूपविनियुक्तवक्तव्याः।
सम्यग्दर्शनशब्दं लभन्ते न विशेषसंज्ञाः ॥25॥

शब्दार्थ—तह—उसी प्रकार; सव्वे—सब; णयवाया—नयवाद; जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा—यथानुरूप वचनों (में) विनियुक्त (प्रकट होने वाले); सम्मद्दंसणसद्दं—सम्यग्दर्शन शब्द (को); लहंति—प्राप्त करते (हैं); विसेससण्णाओ—विशेष संज्ञा (वाले हो कर); ण—नहीं।

नय कैसे सम्यक् होते हैं ?

भावार्थ—वैसे ही जितने भी नयवाद हैं, वे सब अपने-अपने कथन को यथानुरूप सापेक्ष रीति से प्रकट करने पर ही 'सम्यग्दर्शन' या 'सुनय' शब्द से वाच्य होते हैं। वे विशेष संज्ञा रूप जो 'मिथ्यादर्शन' या 'दुर्नय' है, उसका परित्याग कर देते हैं। मिथ्या या निरपेक्ष दृष्टि का त्याग किए बिना कोई नय 'सुनय' नहीं हो सकता।

लोइयपरिच्छयसुहो[3] णिच्छयवयणपडिवत्तिमग्गो य।
अह पण्णवणाविसओ त्ति[4] तेण वीसत्थमुवणीओ ॥26॥

लौकिकपरीक्षकसुखो निश्चयवचनप्रतिपत्तिमार्गश्च।
अथ प्रज्ञापनविषय इति तेन विश्वस्तमुपनीतः ॥26॥

---

1. ब[1] जहाणुरूवं निउत्त।
2. ब[1] न वि संससन्नाओ।
3. ब[1] परित्थअमुहो।
4. स[1] ति।

शब्दार्थ—अह—और; पण्णवणाविसओ—प्रतिपादन का विषय (जो कहा जा रहा है); (वह) लोइय—लौकिक (जन) (और); परिच्छय—परिज्ञः (जान सके); सुहे—सुख (ज्ञेय हो जाए); य—और; णिच्छयवयणपडिवत्तिमग्गो—निश्चित ज्ञानमार्ग (के प्रतिपादक) वचन (हैं); तेण—इसलिये; त्ति—यह; वीसत्थमुवणीओ—विश्वस्त करने (वाला है)।

दृष्टान्त की सार्थकता :

भावार्थ—उपर्युक्त जो रत्नावली का दृष्टान्त दिया गया है, वह इसलिये कि जो कहा जा रहा है वह व्यवहार जानने वाले और शास्त्र जानने वालों को सरलता से समझ में आ जाए। क्योंकि ये वचन निश्चित अर्थ के बोधक तथा विश्वास उत्पन्न करने वाले हैं। वास्तव में यह विषय परमार्थ का है।

इहरा समूहसिद्धो परिणामकओ व्व जो जहिं अत्थो।
ते तं च ण तं तं चेव व त्ति णियमेण मिच्छत्तं ॥27॥

इतरथा समूहसिद्धः परिणामकृत इव यो यत्रार्थः।
तत् तच्च न तत्तद् चैव वेति नियमेन मिथ्यात्वम् ॥27॥

शब्दार्थ—इहरा—अन्य प्रकार से (सापेक्षता न हो तो); समूहसिद्धो—समुदाय (रूप में) प्रतिष्ठित (मत में); परिणामकओ—परिणाम (रूप) कार्य (उत्पन्न होता है); व्व—ही; जो—जो; जहिं—जिस में (कारण में); अत्थो—पदार्थ (सत् होता है); ते—वह (कार्य); तं—उस (कारण रूप है); व—अथवा; ण—नहीं (है वह कार्य—कारण रूप); च—और; तं—यह (कार्य); तं—कारण (रूप); चेव—ही (है); त्ति—यह (मान्यता); णियमेण—नियम से (सिद्धान्ततः); मिच्छत्तं—मिथ्यात्व (विपरीत कहा जाता है।)

सापेक्षता न हो तो मिथ्यात्व (विपरीतता) :

भावार्थ—नयवाद की सापेक्षता में जो अभी कहा गया है, उससे भिन्न रूप में जो भी मान्यताएँ हैं, उन सब में मिथ्यात्व (असत्पना) है; जैसे कि परिणामवादी कार्य को सत् मानते हैं। सत्कार्यवादी सांख्य मत के अनुसार स्वयं कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है। किन्तु कई मतवादी कार्य को असत् मानते हैं। वैशेषिक आदि की मान्यता है कि अवयवों से अवयवी रूप कार्य प्रारम्भ होता है। इन से भिन्न अद्वैतवादी हैं जो द्रव्य मात्र को स्वीकार करते हैं, कार्य-कारण भाव को नहीं मानते। ये सभी मान्यताएँ असत् या मिथ्या हैं, क्योंकि परस्पर में ये एक-दूसरे का निराकरण करती हैं। परन्तु जब इनका सापेक्षता रूप से कथन किया जाता है, तो कथंचित् सत्यता सिद्ध होती है।

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा[1]।
ते पुण[2] ण दिट्ठसमयो[3] विभयइ सच्चे व[4] अलिए वा ॥28॥

निजकवचनीयसत्याः सर्वनयाः परविगलने मोहाः।
स पुन र्न दृष्टसमयो विभजते सत्ये वा अलीके वा ॥28॥

शब्दार्थ—**सव्वणया**—सभी नय; **णियय**—अपने (अपने); **वयणिज्ज**—**वक्तव्य** (में); **सच्चा**—सच्चे (हैं और); **परवियालणे**—**दूसरे** (के वक्तव्य का) निराकरण (करने में); **मोहा**—व्यर्थ (हैं); **दिट्ठसमयो**—सिद्धान्त (का) ज्ञाता; **पुण**—फिर; **ते**—उन; (नयों का); **सच्चे**—सत्य में (यह सच्चा है); **व**—अथवा; **अलिए**—झूठ में (यह झूठा है); (ऐसा) **ण**—नहीं; **विभयइ**—विभाग करता (है)।

अपनी मर्यादा में सभी नय सच्चे :

भावार्थ—सभी नय जब अपनी-अपनी मर्यादा में रह कर अपने-अपने विषय का कथन करते हैं, तब सभी सत्य होते हैं। किन्तु जब अपनी मर्यादा को लाँघ कर दूसरे नय के वक्तव्य का निराकरण करने में प्रवृत्त हो जाते हैं, तब वे ही असत्य माने जाते हैं। इसलिये अनेकान्त सिद्धान्त का जानकार कभी यह विभाग नहीं करता कि 'यही सत्य है या यही असत्य है।' अनेकान्तवादी कार्य को कथंचित् ही सत् या असत् कहता है।

दव्वट्ठियवत्तव्वं सव्वं सव्वेण[5] णिच्चमवियप्पं।
आरद्धो य विभागो पज्जववत्तव्वमग्गो य ॥29॥

द्रव्यार्थिक-वक्तव्यं सर्वं सर्वेण नित्यमविकल्पम्।
आरब्धश्च विभागो पर्यववक्तव्यमार्गश्च ॥29॥

शब्दार्थ—**सव्वं**—सब; **सव्वेण**—सब तरह से; **णिच्चमवियप्पं**—नित्य (और) अविकल्प (भेदरहित); **दव्वट्ठियवत्तव्वं**—द्रव्यार्थिक (नय का) वक्तव्य (है); **य**—और; **विभागो**—भेद (के); **आरद्धो**—आरम्भ (होते ही); **पज्जववत्तव्वमग्गो**—पर्याय (आर्थिक नय के) वक्तव्य (का) मार्ग (बन जाता) है।

---

1. ब[4] दोसा।
2. अ[1] उण।
3. ब[4] पुण णिद्दिट्ठसमट्ठ; द[1] समओ।
4. स[1] य।
5. ब[4] सव्वं सव्वेण।

दोनों नयों की विषय-मर्यादा :

भावार्थ—सत्ता सामान्य की अपेक्षा सभी पदार्थ सब तरह से नित्य और भेदरहित हैं। भेदरहित द्रव्य का कथन द्रव्यार्थिकनय का वक्तव्य है। किन्तु भेदरूप कथन के प्रारम्भ होते ही पर्यायार्थिकनय का विषय आ जाता है। 'सत्' के भेद से ही पर्यायार्थिकनय की वक्तव्यता प्रारम्भ हो जाती है।

जो[1] पुण[2] समासओ च्चिय वंजणणियओ य अत्थणियओ य।
अत्थगओ य अभिण्णो भइयव्वो वंजणवियप्पो[3] ॥30॥

यः पुनः समासतश्चैव व्यंजननियतश्चार्थनियतश्च।
अर्थगतश्चाभिन्नो भक्तव्यो व्यंजनविकल्पः ॥30॥

शब्दार्थ—जो—जो; पुण—फिर; समासओ—संक्षेप (में); च्चिय—ही; वंजणणियओ—व्यंजननियत (शब्दसापेक्ष); य—और; अत्थणियओ—अर्थ-नियत (अर्थसापेक्ष) (हैं); य—और; अत्थगओ—अर्थगत (विभाग); अभिण्णो; अभिन्न (हैं); य—और; वंजणवियप्पो—व्यंजन-विकल्प (शब्दगतभेद); भइयव्वो—भाज्य (भिन्न तथा अभिन्न) हैं।

व्यंजन पर्याय भिन्न तथा अभिन्न :

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ भेदाभेदात्मक है। यह विभाग संक्षेप में शब्द-सापेक्ष और अर्थ-सापेक्ष है। अर्थगत विभाग अभिन्न है, पर शब्दगत विभाग भिन्न है और अभिन्न भी है। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थगत सदृश परिणमन व्यंजन पर्याय है। इस व्यंजन पर्याय में जो अन्य अनेक विकल्प (भेद) हैं, वे सब अर्थपर्याय हैं। उदाहरण के लिए, 'जीवत्व' यह सामान्य धर्म है। संसारी जीव, मुक्त जीव आदि इसके विभाग हैं। इन में समान प्रतीति तथा शब्दवाच्यता का जो विषय है, वही सदृश परिणमन तथा व्यंजनपर्याय है। व्यंजन पर्याय शब्दसापेक्ष है। इस व्यंजनपर्याय रूप सदृशपरिणमन में जो शैशव, यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ हैं, वे सब अर्थपर्याय हैं। इन्हें जो अभिन्न कहा गया है, वह अन्तिम भेद की अपेक्षा कहा गया है। क्योंकि मनुष्य पर्याय में ही ये सब अवस्थाएँ घटित होती हैं।

---

1. ब' सो
2. अ' उण।
3. द' तिगप्पो।

एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया[1] वयणपज्जया[2] वा वि।
तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं ॥31॥

एक द्रव्ये येऽर्थपर्याया वचनपर्याया वापि।
अतीतानागतभूतास्तावत्कं तद् भवति द्रव्यम् ॥31॥

शब्दार्थ—एगदवियम्मि—एक द्रव्य में; जे—जो; तीयाणागयभूया—अतीत, भविष्य (और) वर्तमान (में); अत्थपज्जया—अर्थपर्याय; वा—भी; वयणपज्जया—वचन-पर्याय (शब्द या व्यंजनपर्याय); तं—वह; दव्वं—द्रव्य; तावइयं—उतना; हवइ—होता (है)।

द्रव्य कितना ?

भावार्थ—एक द्रव्य में जितनी अतीत, भविष्यत् और वर्तमान की अर्थपर्यायें तथा व्यंजन (शब्द) पर्यायें हुई हैं, होने वाली हैं और हो रही हैं, वह द्रव्य उतना ही है।

पुरिसम्मि पुरिससद्दो जम्माई मरणकालपज्जंतो।
तस्स उ बालाईया पज्जवजोगा[3] बहुवियप्पा[4] ॥32॥

पुरुषे पुरुषशब्दः जन्मादिमरणकालपर्यन्तः।
तस्य तु बालादिकाः पर्यवयोगा बहुविकल्पाः ॥32॥

शब्दार्थ—जम्माई—जन्म से; मरणकालपज्जंतो—मरणकाल तक (अनन्त पर्यायों में); पुरिसम्मि—पुरुष में; पुरिससद्दो—पुरुष शब्द (का व्यवहार होता है); तस्स—उस (पुरुष) के; उ—तो; पज्जवजोगा—पर्याय (के) संयोगों (से); बहुवियप्पा—अनेक विकल्प (अंश होते हैं)।

व्यंजनपर्याय : सदृशपर्यायप्रवाह :

भावार्थ—पुरुष के रूप में जन्म लेकर मरण पर्यन्त यह जीव 'पुरुष' कहा जाता है। वर्तमान, भूत, भविष्यत् तीनों कालों की अनन्त अर्थपर्याय तथा व्यंजनपर्यायात्मक पुरुष रूप पदार्थ में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग होता है। जीव का यह पुरुष रूप सदृशपर्यायप्रवाह व्यंजन-पर्याय है। इसमें जो शैशव, यौवन, बुढ़ापा आदि अनेक प्रकार की स्थूल तथा अन्य सूक्ष्म पर्यायें भासित होती हैं, वे सब पुरुष की ही अवान्तर पर्यायें हैं, जिन्हें यहाँ अर्थपर्याय कहा गया है।

---

1. ब° पज्जता।
2. ब° पज्जया।
3. अ° पज्जवजोय।
4. द° बहुवियप्पा।

अत्थि त्ति णिव्वियप्पं पुरिसं जो भणइ पुरिसकालम्मि।
सो बालाइवियप्पं[1] ण लहइ तुल्लं व पावेज्जा[2] ॥33॥

अस्तीति निर्विकल्पं पुरुषं यो भणिति पुरुषकाले।
स बालादिविकल्पं न लभते तुल्यमेव प्राप्नोति ॥33॥

शब्दार्थ—जो—जो; पुरिसं—पुरुष को; पुरिसकालम्मि—पुरुषकाल (मनुष्यदशा) में; अत्थि—अस्ति (अस्ति रूप से है); त्ति—यह (मानता है सो); णिव्वियप्पं—निर्विकल्प (है); सो—यह; बालाइवियप्पं—बाल (युवा आदि भेदों) आदि विकल्पों को; ण—नहीं; लहइ—पाता (मानता है); तुल्लं—बराबर (दोनों को समान); व—ही; पावेज्जा—पाता है (मानता है)।

व्यंजन पर्याय एक ही नहीं :

भावार्थ—जो वक्ता पुरुष को पुरुष दशा में केवल पुरुष ही मानता है, उसकी अन्य बालक, युवक, वृद्ध आदि अवस्थाओं को नहीं मानता—उसका यह अभेद तथा निर्विकल्प रूप कथन है। केवल इसे ही मानने पर मनुष्य की विभिन्न पर्यायों (दशाओं) का लोप मानना पड़ेगा। किन्तु प्रत्येक प्राणी में विभिन्न दशाएँ लक्षित होती हैं। इसलिये व्यंजन पर्याय को सर्वथा एक नहीं माना जा सकता है।

वंजणपज्जायस्स उ पुरिसो पुरिसो त्ति णिच्चमवियप्पो।
बालाइवियप्पं[3] पुण पासइ से अत्थपज्जाओ ॥34॥

व्यंजनपर्यायस्य तु पुरुषः पुरुष इति नित्यमविकल्पः।
बालादिविकल्पं पुनः पश्यति सोऽर्थपर्यायः ॥34॥

शब्दार्थ—वंजणपज्जायस्स—व्यंजनपर्याय का (अनुगमन करने वाले को); उ—तो; पुरिसो—पुरुष; पुरिसो—पुरुष; त्ति—यह (ऐसी); णिच्चमवियप्पो—नित्य निर्विकल्प (भेदहीन प्रतीति होती है); पुण—फिर; बालाइवियप्पं—बाल (युवा आदि भेदों) आदि विकल्पों को; पासइ—देखा जाता (है); से—वह; अत्थपज्जाओ—अर्थपर्याय (है)।

एक द्रव्य में दोनों पर्यायें (अवस्थायें) :

भावार्थ—जब चित्त का झुकाव व्यंजन पर्याय की ओर होता है, तब पुरुष निर्विकल्प

---

1. द° विगप्पं।
2. ब° तुल्लं वयावेज्जा।
3. अ° वियप्पं।

रूप से पुरुष ही लक्षित होता है। किन्तु जब द्रव्य की अर्थपर्याय पर दृष्टि जाती है, तब उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—जैसे कि मनुष्य की शैशव, बाल्य, युवा, प्रौढत्व आदि अवस्थाएँ लक्षित होती हैं। ये द्रव्य की अर्थपर्यायें कही जाती हैं। इस प्रकार एक द्रव्य में व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय दोनों होती हैं।

सवियप्पणिव्वियप्पं इय पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्पं।
सवियप्पमेव वा णिच्छएण ण स णिच्छिओ[1] समए ॥35॥

सविकल्पनिर्विकल्पमितः पुरुषो यो भणेदविकल्पम्।
सविकल्पमेव वा निश्चयेन न स निश्चितः समये ॥35॥

शब्दार्थ—जो—जो; सवियप्पणिव्वियप्पं—सविकल्प-निर्विकल्प (रूप द्रव्य है); इय—इस कारण; पुरिसं—पुरुष को; अवियप्पं—निर्विकल्प (मात्र); सवियप्पमेव—सविकल्प (मात्र) ही; वा—अथवा; भणेज्ज—कहता है; स—वह (मनुष्य); समए—आगम (शास्त्र) में; ण—नहीं; णिच्छिओ—निश्चित (स्थिरबुद्धि है)।

सविकल्प या निर्विकल्प मानना अनिश्चितता :

भावार्थ—सभी व्यंजनपर्याय अभिन्न-भिन्न उभय रूप हैं। किन्तु जो व्यक्ति सविकल्प-निर्विकल्पात्मक पुरुष को केवल निर्विकल्प बुद्धि का विषय या केवल सविकल्प बुद्धि का विषय मानता है, वह आगम में स्थिर बुद्धि वाला नहीं है। क्योंकि जितनी भी व्यंजनपर्यायें हैं, वे सब अनेक रूप हैं। अतः पुरुष को जानते-देखते समय द्रष्टा को दोनों प्रकार की बुद्धि होती है। आगम में जीव की शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थाओं की दृष्टि से पुरुष का उभय रूप कथन किया जाता है।

अत्थंतरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहिं।
वयणविसेसाईयं दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥36॥

अर्थान्तरभूतेन च निजकेन च द्वाभ्यां समकमादिभिः।
वचनविशेषातीतं द्रव्यमवक्तव्य[1] पतति (प्राप्नोति) ॥36॥

शब्दार्थ—अत्थंतरभूएहि—अर्थान्तरभूत (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव) के द्वारा; य—और; णियएहि—निज (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव) के द्वारा; दोहि—दोनों के द्वारा; समयमाईहिं—एक साथ से (में); वयणविसेसाईयं—वचन विशेष

---

1. ब' नय णिच्छिओ।

से अतीत (वचनों की पहुँच से बाहर); द्रव्वं—द्रव्य (कही जाने वाली वस्तु); अवत्तव्वं—अवक्तव्य; पडइ—पड़ती है (कही जाती है)।

सात भंग : (1, 2, 3) सत्, असत् और अवक्तव्य :

भावार्थ—किसी भी वस्तु के एक धर्म को लेकर भाव या अभाव रूप से जो वास्तविक और अवास्तविक कथन किया जाता है, उसे भंग कहते हैं। जब किसी द्रव्य का परद्रव्य, परक्षेत्र, पर काल और परभाव से विचार किया जाता है, तब वह कथंचित् 'असत्' होता है। किन्तु जब स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से विचार किया जाता है, तब कथंचित् 'सत्' होता है। इस तरह से एक ही द्रव्य में 'असत्' और 'सत्' उभय रूप बन जाते हैं। परन्तु जब स्वद्रव्यादिकों और परद्रव्यादिकों दोनों को एक साथ प्रधानता के साथ विवक्षित किया जाता है, तो एक समय में दोनो धर्मो का एक साथ प्रतिपादन न होने से वह 'अवक्तव्य' कोटि में आता है। सात भंगों में से एक कोटि में अवक्तव्य भी है।

अह देसो सब्भावे देसो[1] असब्भावपज्जदे णियओ।
तं दवियमत्थि णत्थि य आएसविसेसियं जम्हा ।। 37।।

अथ देशः सद्भावे देशोऽसद्भावपर्यवे नियतः।
तद्द्रव्यमस्ति नास्ति च आदेशविशेषितं यस्मात्।। 37।।

शब्दार्थ—अह—और (जिसका); देसो—भाग (एक देश); सब्भावे—सद्भाव में (सार रूप में); (तथा) देसो—एक देश; असब्भावपज्जवे—असत्भाव (रूप) पर्याय में; णियओ—नियत (है); तं—वह; दवियं—द्रव्य; अत्थि—अस्ति; णत्थि—नास्ति (रूप है); जम्हा—क्योंकि; आएसविसेसियं—भेद (विवक्षा की) विशेषता (है)।

(4) अस्तिनास्ति :

भावार्थ—जिस द्रव्य का एक भाग सद्भाव पर्याय में नियत है और दूसरा भाग असद्भाव पर्याय में नियत है उसे 'अस्तिनास्ति' रूप कहा जाता है। क्योंकि यह कथन की विवक्षा से विशेषता लिए हुए रहता है। अस्तिनास्ति रूप इस भंग में किसी भी धर्म को मुख्य या गौण नहीं किया जाता है, किन्तु दोनों धर्मों को एक साथ मुख्यता से प्ररूपित कर उनका क्रमशः कथन दिया जाता है। इसे चतुर्थ भंग कहा गया है।

सब्भावे आइट्ठो देसो देसो य उभयहा जस्स।
तं अत्थि अवत्तव्वं च होइ दवियं वियप्पवसा ॥38॥

---

1. ब[1] देसा सब्भाव।

सद्भावे आदिष्टो देशो देशश्चोभयथा यस्य।
तदस्त्यवक्तव्यं च भवति द्रव्यं विकल्पवशात् ॥38॥

शब्दार्थ—जस्स—जिसका; देसो—देश (एक भाग); सब्भावे—सद्भाव (अस्तिरूप) से; य—और; देसो—देश (एक भाग); उभयहा—उभय (रूप) से; आइट्ठो—विवक्षित (हो); तं—वह; दवियं—द्रव्य; वियप्पवसा—विकल्प (भेद के) वश (कारण); अत्थि अवत्तव्वं—अस्ति-अवक्तव्य (होता) है।

(5) अस्ति-अवक्तव्य :

भावार्थ—जिस समय वस्तु के सत् रूप का कथन किया जाता है, उस समय वस्तुगत रूप का कथन नहीं हो सकता और असत् रूप के कथन के समय सत् रूप का प्रतिपादन नहीं हो सकता। इसलिए जिस द्रव्य का एक भाग अस्तिरूप से और दूसरा भाग उभयरूप से कहा जाता है, वह विकल्प के कारण 'अस्ति-अवक्तव्य' कहा जाता है। इस प्रकार यह पाँचवा भंग प्रकट किया गया है।

आइट्ठो असब्भावे देसो देसो य उभयहा जस्स।
तं णत्थि अवत्तव्वं च होइ दवियं वियप्पवसा ॥39॥

आदिष्टोऽसद्भावे देशो देशश्चोभयथा यस्य।
तन्नास्त्यवक्तव्यं च भवति द्रव्यं विकल्पवशात् ॥39॥

शब्दार्थ—जस्स—जिसका; देसो—देश (एक भाग); असब्भावे—असत् भाव में; आइट्ठो—कहा जाता (है); य—और; देसो—देश (एक भाग); उभयहा—उभयरूप (दोनों तरह) से; तं—वह; दवियं—द्रव्य; वियप्पवसा—विकल्पवश; णत्थि अवत्तव्वं—नास्ति-अवक्तव्य; होइ—होता (कहा जाता) है।

(6) नास्ति-अवक्तव्य :

भावार्थ—यह छठा भंग है। इस भंग में पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से द्रव्य असत्रूप है और उभयनयों की युगपत् प्रधानता से वह अवक्तव्य भी है। जब असत् भंग (असद्भाव) अवक्तव्य के साथ कहा जाता है, तब द्रव्य का एक भाग नास्तिरूप से और एक भाग उभय रूप से विवक्षित होता है। इस तरह विकल्पभेद से द्रव्य 'कथंचित् नास्ति' रूप भी है और 'कथंचित् अवक्तव्य' भी है।

सब्भावासब्भावे देसो देसो य उभयहा जस्स।
तं अत्थि णत्थि अवत्तव्वयं[1] च दवियं वियप्पवसा।। 40।।

1. ब° णत्थवत्तव्वयं।

सद्भावाऽसद्भावे देशो देशश्चोभयथा यस्य।
तदस्ति नास्त्यवक्तव्यं च द्रव्यं विकल्पवशात् ॥40॥

शब्दार्थ—जस्स—जिसका; देसो—देश (एक भाग); सब्भावासब्भावे—सद्भाव-असद्भाव (सदसत्रूप से) में; य—और; देसो—देश (दूसरा भाग); उभयदो—दोनों रूप से (कहा जाता है); तं—वह; दवियं—द्रव्य; वियप्पवसा—विकल्पवश से; अत्थि णत्थि च अवत्तव्वं—अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य (बनता है) है।

(7) अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य :

भावार्थ—यह सातवाँ भंग है। इस भंग में क्रमशः द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिकनय की प्रधानता और युगपत् (एक साथ) इन दोनों नयों की प्रधानता होने से द्रव्य कथंचित् अस्तिरूप, कथंचित् नास्तिरूप और कथंचित् अवक्तव्यरूप कहा जाता है। इस प्रकार जिस द्रव्य का एक भाग अस्ति-नास्तिरूप से कहा जाता है और एक भाग दोनों रूपों से कहा जाता है, वह द्रव्य विकल्प-भेद के कारण 'अस्ति-नास्ति अवक्तव्य' कहा जाता है।

मूल में भंग का कारण नित्यता तथा अनित्यता का विचार करना है। द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य सत् एवं नित्य है, यह प्रथम भंग है। पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से असत् एवं अनित्य है, यह द्वितीय भंग है। दोनों नयों की प्रधानता से तृतीय भंग एवं दोनों नयों की युगपत् प्रधानता से चतुर्थ भंग बनता है। शेष तीनों भंग 'अवक्तव्य' के साथ क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय भंग के मिश्रण से बनते हैं। इस प्रकार एक ही द्रव्य का प्रतिपादन सप्तभंगों के रूप में किया जाता है।

एवं सत्तवियप्पो वयणपहो होइ अत्थपज्जाए।
वंजणपज्जाए पुण[1] सवियप्पो णिव्वियप्पो य ॥41॥

एवं सप्तविकल्पो वचनपथो भवत्यर्थपर्याये।
व्यंजनपर्याये पुनः सविकल्पो निर्विकल्पश्च ॥41॥

शब्दार्थ—एवं—इस प्रकार; अत्थपज्जाए—अर्थपर्याय में; सत्तवियप्पो—सात विकल्प (रूप); वयणपहो—वचनमार्ग; होइ—होता है; पुण—फिर; वंजणपज्जाए—व्यंजनपर्याय में; सवियप्पो—सविकल्प; य—और; णिव्वियप्पो—निर्विकल्प (रूप वचन मार्ग होता है)।

अर्थपर्याय तथा व्यंजनपर्याय में भंग :

भावार्थ—द्रव्यगत अर्थपर्याय वस्तुतः शब्दों के द्वारा प्रतिपादित नहीं हो सकती। जो

1. अ° उण।

भी पर्याय शब्दों से कही जाती है, वह व्यंजनपर्याय में अन्तर्भूत मानी जाती है। इस अपेक्षा से उसमें वचन-विकल्प बन जाते हैं। अतः अर्थपर्याय की अपेक्षा उसमें सातों भंग घटित हो जाते हैं। किन्तु व्यंजनपर्याय का प्रतिपादन शब्दों द्वारा होता है, इस कारण उसमें 'स्याद्वक्तव्य' आदि चार भंग घटित नहीं होते। व्यंजनपर्याय में केवल सविकल्प और निर्विकल्प वचनमार्ग होते हैं। सविकल्प से यहाँ अभिप्राय अस्तिरूप भंग से है और निर्विकल्प से नास्तिरूप भंग से है। इनका उपयुक्त तीसरा भंग भी व्यंजनपर्याय में घटित हो सकता है। इस तरह अर्थपर्याय में सातों भंग और व्यंजनपर्याय में दो या तीन भंग घटित होते हैं।

जह दवियमप्पियं तं तहेव अत्थि त्ति पज्जवणयस्स।
ण य ससमयपण्णवणा[1] पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा ॥42॥

यथा द्रव्यमर्पितं तत्तथैवास्तीति पर्यवनयस्य।
न च स्वसमयप्रज्ञापना पर्यवनयमात्रप्रतिपूर्णा ॥42॥

शब्दार्थ—जह—जैसे; दवियं—द्रव्य; अप्पियं—अर्पित, विवक्षित; तं—वह; तहेव—वैसा ही; अत्थि—है; त्ति—यह (ऐसा); पज्जवणयस्स—पर्यायार्थिकनय का (कथन है); (किन्तु) पज्जवणयमेत्त—पर्यायार्थिकनय मात्र; पडिपुण्णा—परिपूर्ण; ससमयपण्णवणा—स्वसमय (आत्मतत्त्व की) प्ररूपणा; ण—नहीं (है)।

केवल पर्यायार्थिकनय का वक्तव्य पूर्ण नहीं :

भावार्थ—जो द्रव्य जिस रूप में विवक्षित है, वह वैसा ही है। पर्यायार्थिकनय की इस देशना के अनुसार वस्तु अपने रूप में विद्यमान है और वही वस्तु है। परन्तु स्वसमय (आत्मतत्त्व) की प्ररूपणा के अनुसार द्रव्य अखण्ड चैतन्य है, अतः पर्याय मात्र में पूर्ण नहीं है। इसलिये पर्यायार्थिकनय की देशना पूर्ण नहीं है।

पडिपुण्णजोव्वणगुणो जह लज्जइ बालभावचरिएण[2]।
कुणइ य गुणपणिहाणं अणागयसुहोवहाणत्थं ॥43॥

प्रतिपूर्णयौवनगुणो यथा लज्जते बालभावचारित्रेण।
करोति च गुणप्रणिधानमनागतसुखोपधानार्थम् ॥43॥

शब्दार्थ—जह—जैसे; पडिपुण्णजोव्वणगुणो—पूर्ण युवावस्था (को प्राप्त पुरुष); बालभाव

---

1. ब° य समयपन्नवणा।
2. ब° चरिएहिं।

चरिएण-बचपन के चरित से; लज्जइ--लज्जित होता (है); (वैसे ही) अणागयसुहोवहाणत्थं—भविष्य (की) सुखोपाधि के लिए; गुणपणिहाणं—गुण (गुणों की) अभिलाषा; कुणइ—करता (है)।

वर्तमान पर्याय मात्र ही द्रव्य नहीं :

भावार्थ—द्रव्य त्रिकालवर्ती है। जैसे पूर्ण युवावस्था को प्राप्त पुरुष बचपन के दुश्चरित्रों का स्मरण कर लज्जित होता है, वैसे ही वह भविष्य में सुख-प्राप्ति की आशा से गुणों की अभिलाषा भी करता है। इस प्रकार भूतकालिक दोष-स्मरण से होने वाली ग्लानि और भावी सुख की आशा से उत्पन्न हुई गुण-रुचि ये दोनों युवक पुरुष के साथ वर्तमान से भूत और भविष्य का सम्बन्ध जोड़ती है। किन्तु पर्यायार्थिकनय केवल वर्तमानकालवर्ती पर्याय को सत्य मानता है। अतएव द्रव्यार्थिकनय का कथन है कि यदि वर्तमान पर्याय मात्र ही द्रव्य होता, तो उसे भूतकाल में हुए अपने दोषों का स्मरण, भूलों का पश्चात्ताप नहीं होना चाहिए था; परन्तु यह प्रत्यक्ष देखा, अनुभव किया जाता है कि प्राणी अपने अतीत का स्मरण करता है।

ण य होइ जोव्वणत्थो बालो अण्णो वि लज्जइ ण तेण।
ण वि य अणागयवयगुणपसाहणं जुज्जइ विभत्ते[1] ॥44॥

न च भवति यौवनस्थो बालोऽन्योपि लज्जते न तेन।
नापि चानागतवयोगुणप्रसाधनं युज्यते विभक्ते ॥44॥

शब्दार्थ—जोव्वणत्थो—युवावस्था (में); बालो—बालक; ण—नहीं; होइ-होता (रहता है); अण्णो—अन्य (भिन्न होने पर); वि—भी; ण—नहीं (है); तेण—उस (बालचरित्र) से; लज्जइ—लजाता (है, इसी तरह); विभत्ते-विभक्त (अत्यन्त भिन्न होने पर); अणागयवयगुण पसाहणं—भावी आयुष्य (के लिए), गुण—साधना; वि—भी; ण—नहीं; जुज्जइ—घटती है।

वस्तु एक है और अनेक भी :

भावार्थ—युवावस्था में पहुँच जाने के पश्चात् फिर बालक नहीं रहता। यद्यपि युवा और बालक दोनों ही अवस्थाएँ भिन्न हैं, किन्तु इन दोनों में आपस में हार में पिरोये हुए धागे की भाँति सम्बन्ध है। यदि ये दोनों अवस्थाएँ भिन्न हों, तो युवक होने पर व्यक्ति को अपने बालचरित्रों से लज्जित नहीं होना चाहिए; परन्तु होता ही है। इसी प्रकार युवक और वृद्ध अत्यन्त भिन्न हों, तो भविष्य के आयुष्य के लिए गुणों की

---

1. ब" विभत्तो।

साधना नहीं घट सकती है। इससे निश्चित है कि दोनों अवस्थाएँ अभिन्न हैं। अनेक में एकता समायी हुई है।

जाइकुलरूवलक्खणसण्णासंबंधओ अहिगयस्स।
बा..इभावदिट्ठविगयस्स जह तस्स संबंधो ॥45॥

जातिकुलरूपलक्षणसंज्ञासम्बन्धेनाधिगतस्य।
बालादिभावदृष्ट विगतस्य यथा तस्य सम्बन्धः ॥45॥

शब्दार्थ—जाइ—जाति; कुल—कुल; रूव—रूप; लक्खण—लक्षण; सण्णा—संज्ञा; संबंधओ—सम्बन्ध से; अहिगयस्स—ज्ञात; बालाइभाव—बालक आदि अवस्था; दिट्ठ—देखे गए; विगयस्स—विगत (विनष्ट); तस्स—उस (पुरुष) का; जह-जैसा; संबंधो—सम्बन्ध (घटित होता है)।

जिस प्रकार :

भावार्थ—बुढ़ापे में जवानी का किसी भी प्रकार का लगाव न हो, तो पुरुष में भौतिक विषय-वासनाओं से सुखी होने की भावना जाग्रत नहीं होनी चाहिए; किन्तु भावना जगती है, इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि दोनों ही अवस्थाएँ कथंचित् भिन्न हैं; सर्वथा भिन्न नहीं हैं। अतः जाति, कुल, रूप, लक्षण, संज्ञा एवं सम्बन्ध से जाने गए पुरुष में अभिन्नता तथा क्रमशः बीतने वाली बाल्यादि अवस्थाओं से भिन्नता भी सिद्ध होती है।

तेहिं[1] अइयाणागयदोसगुणदुगुंछणब्भुवगमेहिं।
तह बंधमोक्खसुहदुक्खपत्थणा होइ जीवस्स ॥46॥

ताभ्यां अतीतानागतदोषगुणजुगुप्साऽभ्युपगमाभ्याम्।
तथा बन्धमोक्ष-सुख-दुःख-प्रार्थना भवति जीवस्य ॥46॥

शब्दार्थ—तेहिं—उन दोनों (अवस्थाओं से); अइयाणागय—अतीत (भूतकाल), अनागत (भविष्यत् काल); दोष—दोष; गुण—गुण; दुगुंछण—जुगुप्सा (ग्लानि); अब्भुवगमेहिं—प्राप्त होने से; तह—उसी प्रकार, जीवस्स—जीव के; बंधमोक्ख-सुहदुक्खपत्थणा—बन्ध, मोक्ष, सुख-दुःख (की) अभिलाषा; होती (है)।

और :

भावार्थ—यदि बचपन से युवावस्था को सर्वथा भिन्न मान लिया जाय, तो बाल्यावस्था

1. अ° अतीताणागय, ब° अइआगागय।

में किए गए अनाचार का स्मरण कर लज्जित नहीं होना चाहिए। परन्तु मनुष्य में अतीत काल के दोष के प्रति ग्लानि तथा भावी गुण के प्रति रुचि देखी जाती है। इसी प्रकार से जीव में बन्ध, मोक्ष, सुख और दुःख की अभिलाषा होती है।

अण्णोण्णाणुगयाणं इमं व तं व त्ति[1] विभयणमजुत्तं।
जह दुद्धपाणियाणं जावंत विसेसपज्जाया ॥47॥

अन्योन्यानुगतयोरिदं तद्वेति विभजनमयुक्तम्।
यथा दुग्धपानीययोः यावन्तो विशेषपर्यायाः ॥47॥

शब्दार्थ—जह—जिस प्रकार; दुद्धपाणियाणं—दूध-पानी का; विभयणमजुत्तं—विभाजन (पृथक्करण) अयुक्त (है); (तह-उसी प्रकार); अण्णोण्णाणुगयाणं—परस्पर ओतप्रोत; जावंत—जितनी; विसेसपज्जाया—विशेष पर्यायें (हैं); इमं—इस (की); व—अथवा; तं—उस (की); व—या; त्ति—इस प्रकार; विभयणमजुत्तं—विभाजन अयुक्त (है)।

जैसे दुग्ध का जल से पृथक्करण नहीं :

भावार्थ—जैसे एक स्थान में स्थित दूध और पानी को अलग-अलग करना युक्त नहीं है, उसी प्रकार परस्पर ओतप्रोत जीव और पुद्गल की पर्यायों में विभाग करना योग्य नहीं है।

रूवाइपज्जवा[2] जे देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि।
ते अण्णोण्णाणुगया पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि ॥48॥

रूपादिपर्याया ये देहे जीवद्रव्ये शुद्धे।
तेऽन्योन्यानुगताः प्रज्ञापनीया भवस्थे ॥48॥

शब्दार्थ—देहे—शरीर में; जे—जो; रूवाइपज्जवा—रूपादि पर्यायें (हैं); सुद्धम्मि—शुद्ध में; जीवदवियम्मि—जीवद्रव्य में; (जे पज्जवा-जो पर्यायें हैं), भवत्थम्मि—संसारी (जीव) में; ते—वे (पर्यायें); अण्णोण्णाणुगया—परस्पर में मिली हुई; पण्णवणिज्जा—कहनी चाहिए।

जीव और शरीर अभिन्न है तथा भिन्न भी :

भावार्थ—शरीर में जो रूप आदि पर्यायें हैं और जो पर्याय विशुद्ध जीव में हैं, वे परस्पर

1. ब' इमं च तं च त्ति।
2. अ' रूआइपज्जवा।

में मिली हुई हैं। इसलिये उनका वर्णन संसारी जीव के रूप में करना चाहिए। यह शरीर है और यह जीव है—इस प्रकार अलग-अलग किसी देश का विभाग नहीं किया जा सकता। संसारी जीव में आत्मगत या शरीर सम्बन्धी जिन धर्मों का या अवस्थाओं का अनुभव होता है, वह दोनों के संयोग के कारण होता है। इसलिये उन्हें किसी एक का न मान कर दोनों का मानना चाहिए।

एवं एगे आया एगे दंडे[1] य होइ किरिया य[2]।
करणविसेसेण य तिविहजोगसिद्धी वि[3] अविरुद्धा ॥49॥

एवमेकस्मिन्नात्मन्ये दण्डे च भवति क्रिया च।
करण-विशेषेण च त्रिविधयोगसिद्धिरप्यविरुद्धाः ॥49॥

शब्दार्थ—एवं—इस प्रकार; एगे—एक में; आया—आत्मा; एगे—एक में; य—और; दंडे—दण्ड (मन, वचन और शरीर में); य—और; (एक), किरिया—क्रिया (सिद्ध होती है); य—और; करणविसेसेण—करण विशेष से (के कारण); तिविहजोगसिद्धी—त्रिविध योग (मन, वचन, काय की) सिद्धि; वि—भी; अविरुद्धा—अविरुद्ध (है)।

आत्मा और मन, वचन, काय का एकत्व :

भावार्थ—इस प्रकार आत्मा और मन, वचन, शरीर की एक क्रिया सिद्ध होती है। मन, वचन और काय की विशेषता के कारण इसमें त्रिविध योग की सिद्धि विरुद्ध नहीं पड़ती है। यहाँ पर मन का अर्थ भावमन से है, वचन से अभिप्राय आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन से है और काय का अर्थ कार्मण काययोग से है। एकत्व बताने का प्रयोजन यही है कि आत्मा और पुद्गल द्रव्य में कथंचित् अभिन्न सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण ही ऐसा कहा जाता है कि आत्मा एक है और उसके आश्रित मन, वचन और शरीर की क्रियाएँ रहती हैं। इनकी त्रिविधता के कारण आत्मा की क्रिया की त्रिविधता का वर्णन किया जाता है।

ण य बाहिरओ भावो[4] अब्भिंतरओ य[5] अत्थि समयम्मि।
णोइंदियं पुण पडुच्च होइ अब्भिंतरविसेसो[6]।। 50।।

---

1. ब[1] दंडो।
2. ब[1] किरिआए।
3. ब उ।
4. ब[1] भावे।
5. अ[1] अब्भंतरओ।
6. अ[1] अब्भंतरविसेसो, ब[1] अब्भिंतरो, भावो।

न च बाह्यो भावोऽभ्यन्तरश्चास्ति समये।
नोइन्द्रियं पुनः प्रतीत्य भवत्यभ्यन्तरविशेषः ॥50॥

शब्दार्थ—समयम्मि—शास्त्र में; बाहिरओ—बाहरी; अब्भिंतरओ—भीतरी; य—और; भावो—भाव; न—नहीं; अत्थि—है; य—और; णोइंदियं—नोइन्द्रिय (मन); पडुच्च—आश्रय करके; अब्भिंतरविसेसो—आभ्यन्तर विशेष; होइ—होता (है)।

बाह्याभ्यन्तर व्यवस्था की विशिष्टता :

भावार्थ—शास्त्र में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है कि अमुक भाव बाह्य है और अमुक भीतरी है। जो पदार्थ मन का विषय होकर किसी भी इन्द्रिय से नहीं जाना जाता है, वह भाव-पदार्थ भीतरी कहा गया है और जो मन से विज्ञात कर इन्द्रियों से जाना जाता है, उसे बाहरी पदार्थ कहते हैं।

दव्वट्ठियस्स आया बंधइ कम्मं फलं च वेइए।
वीयस्स[1] भावमेत्तं ण कुणइ ण य कोइ[2] वेइए ॥51॥

द्रव्यार्थिकस्यात्मा बध्नाति कर्म फलं च वेदयते।
द्वितीयस्य भावमात्रं न करोति न च कश्चिद् वेदयते ॥51॥

शब्दार्थ—आया—आत्मा; कम्मं—कर्म को; बंधइ—बाँधता (है); फलं—फल को; च—और; वेइए—भोगता (है); (यह मत), दव्वट्ठियस्स—द्रव्यार्थिक (नय) का (है); वीयस्स—दूसरे का (पर्यायार्थिक नय का) भावमेत्तं—भाव मात्र (है वह); ण—नहीं; कुणइ—करता (है—बन्ध); ण—नहीं; य—और; कोइ—कोई; वेइए—भोगता (है)।

दोनों नयों की मान्यता :

भावार्थ—द्रव्यार्थिकनय के अनुसार आत्मा कर्म का बन्ध करता है और उसका फल भोगता है। किन्तु पर्यायार्थिकनय नित्यता नहीं मानता है। उसके अनुसार आत्मा की केवल उत्पत्ति होती है। आत्मा न कुछ करता है और न कोई फल भोगता है। द्रव्यार्थिकनय इसलिए नित्यता मानता है कि संसार के किसी भी द्रव्य का कभी नाश नहीं होता। किन्तु पर्यायार्थिक पर्याय का आश्रय करने वाला है जो क्षणिक व अनित्य है।

---

1. ब° बिइअस्स।
2. ब कीवि।

दव्वट्ठियस्स[1] जो चेव कुणइ सो चेव वेयइ[2] णियमा।
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ पज्जवणयस्स ॥52॥

द्रव्यार्थिकस्यश्चैव करोति स चैव वेदयते नियमात्।
अन्यः करोत्यन्यः परिभुंक्ते पर्यवनयस्य ॥52॥

शब्दार्थ—जो—जो; चेव—ही; कुणइ—करता (है); सो—वह; चेव—ही; णियमा—नियम से; वेयइ—भोगता (है, यह मत); दव्वट्ठियस्स—द्रव्यार्थिक (नय) का (है); अण्णो—अन्य; करेइ—करता (है और); अण्णो—अन्य; परिभुंजइ—भोगता (है, यह मत); पज्जवणयस्स—पर्यायार्थिक (नय) का (है)।

और भी :

भावार्थ—द्रव्यार्थिकनय के अनुसार जीव जो कुछ कर्म का बन्ध करता है, नियम से वही भोगता है। किन्तु पर्यायार्थिकनय नय की दृष्टि में करता कोई अन्य है और भोगता कोई अन्य है। द्रव्य-दृष्टि से कर्मों को करने वाला और भोगने वाला एक ही है। किन्तु पदार्थ को क्षण-क्षण में उत्पन्न मानने वाला कर्म के करने वाले और भोगने वाले को भिन्न-भिन्न मानता है। क्योंकि जिसने कर्म किया था, वह दूसरे क्षण में ही परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार किया किसी अन्य ने और भोगा किसी अन्य ने। यह पर्यायार्थिकनय की मान्यता है।

जे[3] वयणिज्जवियप्पा संजुज्जंतेसु होंति एएसु।
सा ससमयपण्णवणा[4] तित्थयरासायणा अण्णा ॥53॥

ये वचनीयविकल्पाः संयुज्यमानेषु भवन्ति एतेषु।
सा स्वसमयप्रज्ञापना तीर्थकराशातना अन्याः ॥53॥

शब्दार्थ—एएसु—इन दोनों के; संजुज्जंतेसु—संयुक्त होने पर; जे—जो (वस्तु के सम्बन्ध में); वयणिज्जवियप्पा—कथन करने योग्य विकल्प; होंति—होते (हैं); सा—वह; ससमयपण्णवणा—अपने सिद्धान्त की प्ररूपणा (है); अण्णा—अन्य (विचारधारा); तित्थयरासायणा—तीर्थंकर की आशातना (है)।

---

1. ब' दव्विअस्स।
2. ब' वेअई।
3. ब' जं।
4. ब' समयपन्नवणा।

समन्वय में जैनदृष्टि :

भावार्थ—इन दोनों नयों के परस्पर मिल जाने पर वस्तु के सम्बन्ध में जो विकल्प प्रकट किए जाते हैं, वे ही सिद्धान्त की प्ररूपणा हैं। सापेक्षनय ही सम्यक् कहे गये हैं। निरपेक्ष नय मिथ्या हैं। निरपेक्ष रूप से जो कथन किया जाता है, वह तीर्थंकरों की वाणी के विरुद्ध है।

पुरिसज्जायं तु पडुच्च जाणओ पण्णवणेज्ज अण्णयरं।
परिकम्मणाणिमित्तं दाएही[1] सो विसेसं पि ॥54॥

पुरुषजातं तु प्रतीत्य ज्ञापकः प्रज्ञापयेदन्यतरत्।
परिकर्मणा निमित्तं दर्शयिष्यति सा विशेषमपि ॥54॥

शब्दार्थ—जाणओ—जानकार (सिद्धान्तज्ञाता); पुरिसज्जायं—पुरुष समूह हो; तु—तो; पडुच्च—अपेक्षा करके; अण्णयर—दोनों में से किसी एक (नय का); पण्णवणेज्ज—प्रतिपादन करना चाहिए; परिकम्मणा—गुणविशेष के आधार (के); णिमित्तं—निमित्त (से); सो—वह; विसेसं—विशेष को; पि—भी; दाएही—दिखलायेगा।

वक्ता किसी एक नय से कथन करे :

भावार्थ—अनेकान्त सिद्धान्त का जानकार वक्ता श्रोताओं को ध्यान में रखकर किसी एक नय के विषय का प्रतिपादन करे। जो श्रोता द्रव्यनय का आश्रय लेकर वस्तु-तत्त्व को समझना चाहता है, उसके समक्ष द्रव्यदृष्टि से और पर्यायवादी को पर्यायनय की अपेक्षा से समझाने का प्रयत्न करे। अभिप्राय यही है कि दोनों नयों (दृष्टियों) को अपने ध्यान में रख कर विषय तथा प्रसंग के अनुसार प्रतिपादन करे। विशेष रूप से सुनने वालों की बुद्धि को संस्कारी बनाने के लिए विशिष्टता का प्रतिपादन करना चाहिए। अनेकान्त ही उस विशिष्टता को दर्शा सकता है।

---

1. अ' दाएहा।

2

जीवकंडयं

जं सामण्णं गहणं[1] दंसणमेयं विसेसियं णाणं।
दोण्ह वि णयाण एसो पाडेक्कं अत्थपज्जाओ ॥1॥

यत् सामान्यग्रहणं दर्शनमेतद् विशेषितं ज्ञानम्।
द्वयोरपि नययोरेष प्रत्येकमर्थपर्यायः ॥1॥

शब्दार्थ–जं–जो; सामण्णं–सामान्य (का); गहणं–ग्रहण (है, वह); एयं–यह; दंसणं–दर्शन (है); विसेसियं–विशेष (रूप से जानना); णाणं–ज्ञान (है); दोण्ह–दोनों; वि–भी (ही); णयाण–नयों (के); पाडेक्कं–प्रत्येक (पृथक्-पृथक् रूप से); एसो–यह (अर्थबोध सामान्य); अत्थपज्जाओ–अर्थपर्याय है।

दर्शन और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं :

भावार्थ–किसी भी वस्तु का सामान्य रूप से जानना दर्शन है और विशेष रूप से जानना ज्ञान है। दोनों ही नय भिन्न-भिन्न रूप से अर्थपर्याय को ग्रहण करते हैं। द्रव्यार्थिक नय का अर्थपर्याय का विषय सामान्य अर्थबोध है और विशेष रूप से बोध पर्यायार्थिक नय में होता है। (यह पहले ही कहा जा चुका है कि वस्तु में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के धर्म (स्वभाव) पाये जाते हैं)।

दव्वट्ठियो वि होऊण दंसणे पज्जवट्ठियो होइ।
उवसमियाईभावं पडुच्च णाणे उ विवरीयं ॥2॥

द्रव्यार्थिकोऽपि भूत्वा दर्शने पर्यायार्थिको भवति।
औपशमिकादिभावं प्रतीत्य ज्ञाने तु विपरीतम् ॥2॥

शब्दार्थ–दंसणे–दर्शन (के समय) में; दव्वट्ठियो–द्रव्यार्थिक (नय का विषय); वि–भी; होऊण–हो कर; (जीव) उवसमियाईभावं–औपशमिक आदि भाव (की);

---

1. प्रकाशित पाठ है–'सामण्णरगहणं'।

पडुच्च—अपेक्षा से; पज्जवट्ठियो—पर्यायार्थिक (भी); होइ—होता है; उ—किन्तु; णाणे—ज्ञान (के समय) में; विवरीयं—विपरीत (भासित होता है)।

दर्शन तथा ज्ञान-काल में भेद :

भावार्थ—दर्शन-काल में जीव द्रव्यार्थिक नय का विषय होने से सामान्य रूप से गृहीत होने पर भी औपशमिक आदि भावों की अपेक्षा विशेष आकारवान रहने के कारण उसमें पर्यायार्थिक नय की भी विशेषता रहती है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब आत्मा सामान्य को ग्रहण करता है, तब विशेष का परित्याग नहीं करता। इसी प्रकार ज्ञान-काल में विशेष आकार को ग्रहण करने पर भी सामान्य का परित्याग नहीं करता। यह नियम है कि सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है। अतएव वस्तु जब सामान्य रूप से प्रतिभासित होती है, तब उसका विशेष रूप लुप्त नहीं होता। सामान्य और विशेष दोनों सदा काल बने रहते हैं; भले ही एक समय में उनमें से एक रूप भासित हो।

मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स[1] य विसेसो।
केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं[2] ॥3॥

मनःपर्यवज्ञानमन्तं ज्ञानस्य च दर्शनस्य च विशेषः।
केवलज्ञानं पुनर्दर्शनमिति ज्ञानमिति च समानं ॥3॥

शब्दार्थ—णाणस्स—ज्ञान की; य—और; दंसणस्स—दर्शन की; य—और; (भिन्नकालता विषयक); विसेसो—विशेष (भेद); मणपज्जवणाणंतो—मनःपर्यवज्ञान पर्यन्त (है); पुण—पुनः (परन्तु); केवलणाणं—केवलज्ञान (में); दंसणं—दर्शन; ति—यह; णाणं—ज्ञान; ति—यह; य—और; समाणं—समान (हैं)

केवलज्ञान में ज्ञान, दर्शन का काल भिन्न नहीं :

भावार्थ—ज्ञान और दर्शन के समय की भिन्नता मनःपर्ययज्ञान तक होती है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है, पहले दर्शन होता है और उसके पश्चात् ज्ञान होता है। किन्तु केवलज्ञान या पूर्णज्ञान होने पर दर्शन और ज्ञान में क्रम नहीं होता। केवलज्ञान की अवस्था में ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं। क्योंकि दर्शन और ज्ञान का क्रम छद्मस्थों (अल्पज्ञानियों) में पाया जाता है। केवलज्ञान में ज्ञान तथा दर्शन के उपयोग-काल में भिन्नता नहीं है।

---

1. ब' दंसणस्स।
2. ब' ति नाणं निअसमाणं :

उक्त गाथा "कसायपाहुड" ग्रन्थ 1 में गा. 143 रूप में ज्यों की त्यों उपलब्ध होती है।

केइ[1] भणंति जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो त्ति।
सुत्तमवलंबमाणा[2] तित्थयरासायणाभीरू ॥4॥

केचिद् भणन्ति यदा जानाति तदा न पश्यति जिन इति।
सूत्रमवलम्बमाना तीर्थकराऽऽशातनाभीरवः ॥4॥

शब्दार्थ—तित्थयरासायणाभीरू—तीर्थंकर (की) आशातना (अवज्ञा से) भयभीत (डरने वाले); सुत्तमवलम्बमाणा—सूत्र (आगम ग्रन्थों का) अवलम्बन लेने वाले; केई—कितने (आचार्य कहते हैं); जइया—जब (सर्वज्ञ); जाणइ—जानते (हैं); तइया—तब; जिणो—केवली; ण—नहीं; पासइ—देखते (हैं); त्ति—यह; भणंति—कहते हैं।

कुछ आचार्यों का भिन्न मत :

भावार्थ—कई (श्वेताम्बर) आचार्य तीर्थंकरों की अवज्ञा से भयभीत हो आगमग्रन्थों का आलंबन लेकर यह कहते हैं कि जिस समय सर्वज्ञ जानते हैं, उस समय देखते नहीं हैं। वे अन्य अल्प ज्ञानियों की भाँति सर्वज्ञ में भी दर्शनपूर्वक ज्ञान क्रमशः मानते हैं। क्योंकि जिस समय जानने की क्रिया होगी, उस समय देखने की क्रिया नहीं हो सकती और जिस समय देखने की क्रिया होगी, उस समय जानने की क्रिया नहीं हो सकती। दोनों में समय मात्र का अन्तर अवश्य पड़ता है। (किन्तु सर्वज्ञ के सम्बन्ध में यह कहना ठीक नहीं है)।

केवलणाणावरणक्खयजायं केवलं जहा णाणं।
तह दंसणं पि जुज्जइ णियआवरणक्खयस्संते[3] ॥5॥

केवलज्ञानावरणक्षयजातं केवलं यथा ज्ञानं।
तथा दर्शनमपि युज्यते निजावरणक्षयस्यान्ते ॥5॥

शब्दार्थ—जहा—जिस प्रकार; केवलं णाणं—केवलज्ञान (सम्पूर्ण ज्ञान); केवलणाणावरणक्खयजायं—केवलज्ञानावरण (के) क्षय (से) उत्पन्न (होता है); तहा—उसी प्रकार; णियआवरणक्खयस्संते—निज आवरण (दर्शनावरण) क्षय (के) अनन्तर; दंसणं—दर्शन (केवलदर्शन); पि—भी; जुज्जइ—घटता (है)।

---

1. ब" केई।
2. ब" मुत्ति (सुत्त) मवलंबमाणा।
3. ब" निजआवरणक्खए सते।

केवली के ज्ञान-दर्शन में काल-भेद नहीं :

भावार्थ—जिस प्रकार अवरोधक जलधरों के हटते ही दिनकर का प्रताप एवं प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों के आवरणों का अपसरण होते ही केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि ज्ञान, दर्शन के आवरण के क्षय हो जाने पर कोई ऐसा कारण नहीं है, जिससे वे विद्यमान रह सकें।

भण्णइ खीणावरणे जह[1] मइणाणं जिणे ण संभवइ।
तह खीणावरणिज्जे विसेसओ दंसणं णत्थि ॥6॥

भण्यते क्षीणावरणे यथा मतिज्ञानं जिने न सम्भवति।
तथा क्षीणावरणीये विशेषतो दर्शनं नास्ति ॥6॥

शब्दार्थ—जह—जिस प्रकार; खीणावरणे—क्षीण आवरण (वाले जिन) में; जिणे—जिन (भगवान्) में; मइणाणं—मतिज्ञान; ण—नहीं; संभवइ—सम्भव (है); तह—उसी प्रकार; खीणावरणिज्जे—क्षीण आवरण (वाले जिन) में; विसेसओ—विशेष रूप से (भिन्न काल में); दंसणं—दर्शन; णत्थि—नहीं है।

और :

भावार्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँचों एक ही ज्ञान के भेद हैं। अल्पज्ञानी (छद्मस्थ) के इन में से केवलज्ञान को छोड़ कर चार ज्ञान तक हो सकते हैं, किन्तु केवलज्ञानी के केवल एक केवलज्ञान ही होता है। इसलिए उनके मतिज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार से केवली के मतिज्ञान नहीं होता, वैसे ही भिन्न-काल में केवलदर्शन भी सम्भव नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि केवली के ज्ञान, दर्शन एक साथ होते हैं; क्योंकि वह क्षायिक है—कर्म के क्षय होने पर उत्पन्न होता है।

सुत्तम्मि चेव साईअपज्जवसियं[2] ति केवलं वुत्तं[3]।
सुत्तासायणभीरुहि तं च दट्ठव्वयं[4] होइ ॥7॥

सूत्रे चैव साद्यपर्यवसितमिति केवलमुक्तम्।
सूत्राऽऽशातनाभीरुभिः तच्च द्रष्टव्यकं भवति ॥7॥

---

1. ब" जइ (ह)।
2. ब" अवज्जवसिअं।
3. ब" केवलं भणिअं।
4. ब" तं पि दव्वदिट्ठयं।

शब्दार्थ—सुत्तम्मि—सूत्र(आगम) में; चेव—ही; केवलं—केवल (दर्शन और ज्ञान) को; साईअपज्जवसियं—सादि-अनन्त (अपर्यवसित); ति—यह; वुत्तं—कहा गया (है); सुत्तासायणभीरुहि—आगम (सूत्र की) आशातना (से) भयभीतों को (के द्वारा); तं—वह; च—और; दट्ठव्वयं—विचारणीय (द्रष्टव्य); होइ—होता (है)।

क्रमभावी पक्ष में सादि-अनन्तता नहीं :

भावार्थ—आगम में केवलदर्शन और केवलज्ञान को सादि-अनन्त कहा गया है। अतः आगम की आशातना से डरने वालों को इस पर विशेष विचार करना चाहिए कि क्रमभावी मानने पर सादि-अनन्तता किस प्रकार बन सकती है? क्योंकि यदि ऐसा माना जाए कि जिस समय केवलदर्शन होता है, उस समय केवलज्ञान नहीं होता, तो इस मान्यता से आगम का विरोध करना है, और इससे केवलदर्शन-केवलज्ञान में सादि-अनन्तता न बनकर सादि-सान्तता घटित होगी जो आगमोक्त नहीं है। इसलिए आगम का विरोध न हो, इस अभिप्राय से क्रमभावित्व न मानकर समकाल-भावित्व मानना चाहिए।

संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि।
केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाइं ॥8॥

सति केवले दर्शने ज्ञानस्य सम्भवो नास्ति।
केवलज्ञाने च दर्शनस्य तस्मात् सनिधनादिम् ॥8॥

शब्दार्थ—केवले—केवल में; दंसणम्मि—दर्शन में; संतम्मि—होने पर; णाणस्स—ज्ञान का (केवलज्ञान का होना); संभवो—सम्भव; णत्थि—नहीं है; केवलणाणम्मि—केवलज्ञान में; च—और; दंसणस्स—दर्शन (केवलदर्शन का होना सम्भव नहीं है); तम्हा—इस कारण से; सणिहणाइं—सादि-सान्त (हो जाएगा)।

केवली में ज्ञान-दर्शन युगपत् :

भावार्थ—केवली भगवान् के केवलदर्शन होने के पश्चात् केवलज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार केवलज्ञान होने पर केवलदर्शन नहीं होता। क्योंकि इस प्रकार का क्रमत्व उनके नहीं होता। दर्शनावरण और ज्ञानावरण का क्षय एक काल में समान रूप से होने के कारण केवलदर्शन और केवलज्ञान एक समय में एक ही साथ समान रूप से उत्पन्न होते हैं। फिर, यह प्रश्न उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता कि क्रमवाद पक्ष में केवली की आत्मा में ज्ञान, दर्शन में से पहले कौन उत्पन्न होता है?

दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वयरं।
होज्ज समं उप्पाओ हंदि दुवे[1] णत्थि उवओगा ॥9॥

दर्शनज्ञानावरणक्षये समाने कस्य पूर्वतरम्।
भवेत् सममुत्पादः खलु द्वौ न स्तः उपयोगौ ॥9॥

शब्दार्थ—दंसणणाणावरणक्खए—दर्शनावरण (और) ज्ञानावरण (के) क्षय होने पर; समाणम्मि—समान (रूप में); कस्स—किसका (उत्पाद); पुव्वयरं—पहले (पूर्वतरः) (होता है, क्योंकि दोनों का); समं—(एक) साथ; उप्पाओ—उत्पाद; होज्ज—हो (तो); हंदि—निश्चय (से); दुवे—दो; उवओगा—उपयोग; णत्थि—नहीं (एक साथ) हैं।

केवली के एक ही उपयोग :

भावार्थ—आगम का विरोध करने वालों के लिए स्पष्टीकरण के निमित्त यह गाथा कही गई है कि दर्शनावरण तथा ज्ञानावरण का विनाश एक साथ होने से केवलदर्शन और केवलज्ञान की उत्पत्ति एक साथ हो जाती है। यदि क्रम से माना जाए, तो प्रश्न है कि दर्शन और ज्ञान में से किसकी उत्पत्ति पहले होती है? इसी प्रकार से दोनों उपयोग क्रम से होते हैं या अक्रम से? इसका स्पष्टीकरण यही है कि पूर्वापर क्रम से दर्शन, ज्ञान केवली में मानना न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि क्रमवाद पक्ष में इन दोनों में सावरण मानना पड़ता है जो सम्भव नहीं है। सामान्यतः दोनों उपयोग क्रम से होते हैं। परन्तु केवलज्ञान-काल में केवली सामान्यविशेषात्मक पदार्थ को एक ही समय में जानते हैं, इसलिए उनके दर्शन और ज्ञान उपयोग एक साथ होते हैं। वास्तव में कार्य रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीति न होने के कारण सामान्यतः एक उपयोग कहा जाता है।

जइ सव्वं सायारं जाणइ एक्कसमएण[2] सव्वण्णू।
जुज्जइ सया वि एवं अहवा सव्वं ण याणाइ ॥10॥

यदि सर्वं साकारं जानाति एक समयेन सर्वज्ञः।
युज्यते सदाप्येवं अथवा सर्वं न जानाति ॥10॥

शब्दार्थ—जइ—यदि; सव्वण्णू—सर्वज्ञ; एक्कसमएण—एक साथ (एक समय में); सव्वं—सब; सायारं—साकार (आकार सहित पदार्थों) को; जाणइ—जानता है; (तो) जुज्जइ—युक्तियुक्त (हो सकती है); सया-सदा; वि—ही; एवं—इस प्रकार; अहवा—अथवा; सव्वं—सब को; ण—नहीं; याणाइ—जानता है।

---

1. अ° दुए।
2. ब° सव्वसमएण।

सर्वज्ञ सामान्य-विशेष रूप पदार्थों का ज्ञाता :

भावार्थ—यदि सर्वज्ञ एक समय में सभी पदार्थों को सामान्य-विशेष रूप आकार सहित जानता है, तो यह मान्यता युक्तियुक्त हो सकती है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से मानने पर उनमें सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता नहीं बन सकेगी। क्योंकि दोनों प्रकार के उपयोग (दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोग) अपने-अपने विषय को भिन्न-भिन्न रूप से जानते हैं। जिस समय एक उपयोग सामान्य का ज्ञाता होता है, उस समय विशेष का ज्ञान कैसे हो सकता है? इसी प्रकार जब दूसरा उपयोग विशेष का ज्ञाता होता है, तो उसका कार्य भिन्न होता है। इसलिए वस्तु में पाए जाने वाले उभय धर्मों (सामान्य, विशेष) का ज्ञाता एक उपयोग नहीं हो सकता। अतएव इन उपयोगों में से क्रमशः जानने वाला सर्वज्ञ नहीं हो सकता। क्योंकि उनमें एक चैतन्य प्रकाश पाया जाता है।

परिसुद्धं सायारं[1] अवियत्तं दंसणं अणायारं[2]।
ण य खीणावरणिज्जे जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं[3] ॥11॥

परिशुद्धं साकारमव्यक्तं दर्शनमनाकारम्।
न च क्षीणावरणीये युज्यते सुव्यक्तमव्यक्तम् ॥11॥

शब्दार्थ—सायारं—साकार (ज्ञान); परिसुद्धं—निर्मल (होता है); अणायारं—अनाकार, दंसणं—दर्शन; अवियत्तं—अव्यक्त (रहता है); खीणावरणिज्जे—क्षीण आवरण वाले केवली में; सुवियत्तमवियत्तं—सुव्यक्त (तथा) अव्यक्त (का भेद); ण—नहीं; य—और; जुज्जइ—युक्त (है)।

केवली में व्यक्त-अव्यक्त का भेद नहीं :

भावार्थ—यह कथन करना कि केवली जिस समय साकार ग्रहण करते हैं, उस समय केवलदर्शन (अनाकार) अव्यक्त रहता है और जब वे दर्शन ग्रहण करते हैं, तब साकार अव्यक्त होता है, उचित नहीं है; क्योंकि उपयोग की यह व्यक्त एवं अव्यक्त दशा आवरण का सर्वथा विलय कर देने वाले केवली में नहीं बनती है।

अदिट्ठं अण्णायं[4] च केवली एव भासइ सया वि।
एगसमयम्मि[5] हंदी वयणवियप्पो ण संभवइ ॥12॥

---

1. मुद्रित पाठ है—[ब] सागारं।
2. मुद्रित पाठ है"—अणागारं।
3. ब" सुवियत्तमवियत्तं।
4. ब प्रति में 'च' छूटा हुआ है।
5. ब" समएण।

अदृष्टमज्ञातं च केवली एव भाषते सदापि।
एकसमये खलु वचनविकल्पो न सम्भवति ॥12॥

शब्दार्थ—केवली—केवली (भगवान्); एव—ही; सया—सदा; वि—ही; अदिट्ठं—अदृष्ट; च—और; अण्णायं—अज्ञात; भासइ—बोलते (हैं); हंदी—निश्चय (से); एगसमयम्मि—एक समय में; वयणवियप्पो—वचन-विकल्प; ण—नहीं; संभवइ—सम्भव है।

केवली ही दृष्ट, ज्ञात पदार्थों के एक समय में उपदेशक :

भावार्थ—केवली सदा ही अदृष्ट, अज्ञात पदार्थों का कथन करते हैं—ऐसा कहने से वे दृष्ट एवं ज्ञात पदार्थों के एक समय में उपदेशक होते हैं, यह वचन नहीं बन सकता है।

विशेष—आगम का यह कथन है कि केवली सर्वज्ञ सदा दृष्ट एवं ज्ञात पदार्थों के ही एक समय में उपदेशक होते हैं। यदि उनमें क्रमपूर्वक उपयोग माना जाय, तो जिस क्षण पदार्थ दृष्ट होगा, दूसरे समय में वही अदृष्ट हो जाएगा। इसी प्रकार जो पदार्थ एक समय में ज्ञात होगा, दूसरे समय में वही अज्ञात हो जाएगा। अतः ऐसा मानने पर केवली भगवान् में सर्वदर्शित्व तथा सर्वज्ञातृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

अण्णायं पासंतो अदिट्ठं[1] च अरहा[2] वियाणंतो।
किं जाणइ किं पासइ कह सव्वण्णु त्ति वा होइ ॥13॥

अज्ञातं पश्यन्नदृष्टं चार्हन् विजानानः।
किं जानाति किं पश्यति कथं सर्वज्ञ इति वा भवति ॥13॥

शब्दार्थ—अण्णायं—अज्ञात को; पासंतो—देखने वाला; य—और; अदिट्ठं—अदृष्ट को; वियाणंतो—जानता हुआ; अरहा—अर्हन् (केवली); किं—क्या; जाणइ—जानता (है) (और); किं—क्या; पासइ—देखता (है); (वह) कह—किस प्रकार; सव्वण्णु—सर्वज्ञ; त्ति—यह; वा—अथवा; होइ—होता है।

अज्ञात का द्रष्टा व अदृष्ट का ज्ञाता सर्वज्ञ कैसे? :

भावार्थ—यदि केवली अर्हन्त अज्ञात पदार्थ के द्रष्टा और अदृष्ट पदार्थ के ज्ञाता हैं, तो इस स्थिति में उनमें से एक समय में सर्वदर्शित्व तथा सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि उनमें विद्यमान दर्शन, ज्ञान, अपने-अपने विषय को देखने,

1. ब° अदिट्ठं।
2. द° अरहो।

जानने वाला है। जिस समय वह देखेगा, उस समय जानेगा नहीं और जिस समय जानेगा, उस समय देखेगा नहीं। इस प्रकार एक समय में एक साथ सामान्य-विशेष को जानने वाला उपयोग नहीं होगा। अतः उनमें सर्वदर्शित्व तथा सर्वज्ञत्व भी नहीं बन सकता।

केवलणाणमणंतं जहेव तह दंसणं पि पण्णत्तं।
सागारग्गहणाहि य णियमपरित्तं अणागारं ॥14॥

केवलज्ञानमनन्तं यथैव तथा दर्शनमपि प्रज्ञप्तम्।
साकारग्रहणेन च नियमपरीतमनाकारम् ॥14॥

शब्दार्थ—जहेव—जिस प्रकार; केवलणाणमणंतं—केवलज्ञान अनन्त (है); तह—वैसे (ही); दंसणं—दर्शन; पि—भी; पण्णत्तं—कहा गया (है); (किन्तु) सागारग्गहणाहि—साकार ग्रहण (की अपेक्षा) से; य—और (पाद-पूरण के लिए); अणागारं—अनाकार (दर्शन); णियम—नियम (से); परित्तं—अल्प (परिमित) है।

केवली का दर्शन व ज्ञान अनन्त :

भावार्थ—आगम में केवली भगवान का दर्शन और ज्ञान अनन्त कहा गया है। परन्तु उसके दर्शन, ज्ञान के उपयोग में क्रम माना जाय तो साकार-ग्रहण की अपेक्षा से परिमित विषय वाला होगा, जिससे उनके दर्शन में अनन्तता नहीं बन सकती। अतएव केवली भगवान् में एक समय में ही दर्शन-ज्ञानमय एक उपयोग मानना चाहिए।

भण्णइ जह चउणाणी जुज्जइ णियमा तहेव एयं पि।
भण्णइ ण पंचणाणी जहेव अरहा तहेयं पि ॥15॥

भण्यते यथा चतुर्ज्ञानी युज्यते नियमात् तथैवेतदपि।
भण्यते न पंचज्ञानी यथैवार्हन् तथैवमपि ॥15॥

शब्दार्थ—भण्णइ—कहता है; जह—जिस प्रकार; चउणाणी—चार ज्ञान वाला; जुज्जइ—संयुक्त (होता) है; तहेव—उसी प्रकार ही; णियमा-नियम से; एयं—यह; पि—भी (है); (सिद्धान्ती) भण्णइ—कहता है; जहेव—जिस प्रकार (से) ही; अरहा—केवली (सर्वज्ञ); पंचणाणी—पाँच ज्ञान वाले; ण—नहीं; तहा—उस प्रकार; एयं-यह; पि—भी; (है)।

---

1. द° एवपि।

क्रमोपयोगवादी का कथन :

भावार्थ—क्रमवादी कहता है कि जिस प्रकार चार ज्ञान वाला अल्पज्ञानी (छद्मस्थ) निरन्तर ज्ञान-शक्ति-सम्पन्न ज्ञाता-द्रष्टा कहा जाता है, उसी प्रकार उपयोग का क्रम होने से केवली भी ज्ञाता-द्रष्टा सर्वज्ञ कहलाता है। अतः क्रमवाद में कोई दोष नहीं है। इसका निराकरण करता हुआ सिद्धान्ती कहता है कि केवली भगवान् का शक्ति की अपेक्षा विचार करना उचित नहीं है। क्योंकि उनकी शक्तियाँ व्यक्त हो चुकी हैं। अतएव केवली सर्वज्ञ को पाँच ज्ञान वाला भी नहीं कहा जाता है। केवली भगवान में सब प्रकार की ज्ञान-शक्तियों की पूर्णता होने पर भी शक्ति की अपेक्षा से नहीं, अपितु उपयोग की अपेक्षा से कथन किया गया है। क्योंकि आगम में कहीं भी उनके लिए 'पंचज्ञानी' शब्द का व्यवहार नहीं किया गया है।

पण्णवणिज्जा भावा समत्तसुयणाणदंसणाविसओ।
ओहिमणपज्जवाण उ अण्णोण्णविलक्खणा[1] विसओ ॥16॥

प्रज्ञापनीया भावाः समस्तश्रुतज्ञानदर्शनविषयः।
अवधिमनःपर्ययोस्त्वन्योन्यविलक्षणा विषयः ॥16॥

शब्दार्थ—समत्त—समस्त (सभी); सुयणाणदंसणा—श्रुतज्ञान (आगम रूप) दर्शन (का); विसओ—विषय; पण्णवणिज्जा—प्रज्ञापनीय (शब्दों के द्वारा प्रतिपादन करने योग्य); भावा—पदार्थ (द्रव्यादिक पदार्थ हैं); उ—किन्तु; ओहिमणपज्जवाण—अवधि (ज्ञान और) मनःपर्ययज्ञान (के); अण्णोण्ण—परस्पर; विलक्खणा—विलक्षण (भिन्नता वाले पदार्थ); विसओ—विषय (हैं)।

ज्ञान का विषय पदार्थ :

भावार्थ—सम्पूर्ण श्रुतज्ञान रूपी दर्शन का विषय शब्दों से प्रतिपादन करने योग्य द्रव्यादिक पदार्थ हैं। किन्तु अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में यह विशेषता है कि वह परस्पर विलक्षण पदार्थों को भी विषय करता है। श्रुतज्ञान कुछ पर्याय सहित सब द्रव्यों को जानता है। उसका विषय है—शब्दों के माध्यम से पदार्थ को प्राप्त करना। अवधिज्ञान का विषय सीमित है। अवधिज्ञान इन्द्रियादिक की सहायता के बिना ही रूपी पुद्गल द्रव्य को विशद रूप से जानता है, किन्तु अरूपी को वह भी नहीं जानता। मनःपर्ययज्ञान दूसरे के मनस्थित विषय-वस्तु को ही जानता है, अमूर्त द्रव्यों को जानना उसका भी विषय नहीं है। अतएव चारों ज्ञान सभी पर्यायों सहित द्रव्य को नहीं जानते। परन्तु श्रुतज्ञान से अवधिज्ञान और अवधिज्ञान से मनःपर्ययज्ञान के विषय में उत्तरोत्तर विशेषता लक्षित होती है।

---

1. ब विलक्खणो।

तम्हा चउव्विभागो जुज्जइ ण उ णाणदंसणजिणाणं।
सयलमणावरणमणंतमक्खयं केवलं जम्हा[1] ॥17॥

तस्मात् चतुर्विभागो युज्यते न तु ज्ञानदर्शनजिनानाम्।
सकलमनावरणमनन्तमक्षयं केवलं यस्मात् ॥17॥

शब्दार्थ—तम्हा—इसलिये; चउव्विभागो—चार विभाग (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान का विभाग); जुज्जइ—युक्त (है); ण उ—किन्तु नहीं (बनता है); जिणाणं—जिन (केवली) के; णाणदंसण—ज्ञान-दर्शन (में); जम्हा—क्योंकि; केवल—केवल (ज्ञान); सयलं—सम्पूर्ण; अणावरणं—अनावरण; अणंतं—अनन्त (और); अक्खयं—अक्षय (है)।

केवली के उपयोग में ज्ञान-विभाग नहीं :

शब्दार्थ—ज्ञान में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार विभाग बन जाते हैं, किन्तु ज्ञान, दर्शन की प्रधानता वाले केवली भगवान् में ज्ञान, दर्शन का विभाग नहीं बनता; क्योंकि केवलज्ञान सम्पूर्ण विषय को जानने वाला, आवरण से रहित, अनन्त और अक्षय होता है।
विशेष—यह है कि ये चारों ज्ञान किसी भी जीव में योग्यतानुसार एक साथ हो सकते हैं। इनमें भेद भी है। किन्तु केवलज्ञान के होने पर इनमें कोई भेद नहीं रह जाता; यहाँ तक कि सूर्य के प्रकाश व ताप की भाँति इनमें कालभेद भी नहीं होता। केवली का ज्ञान-दर्शन एक ही उपयोग रूप होता है, ऐसा मानना चाहिए।

परवत्तव्वयपक्खा[1] अविसिट्ठा तेसु तेसु सुत्तेसु।
अत्थगईय उ तेसिं वियंजणं जाणओ कुणइ ॥18॥

परवक्तव्यपक्षा अविशिष्टा तेषु तेषु सूत्रेषु।
अर्थगत्या तु तेषां व्यंजनं ज्ञायकः करोति ॥18॥

शब्दार्थ—तेसु—उनमें; तेसु-उनमें; सुत्तेसु—सूत्रों में; परवत्तव्वयपक्खा—पर (अन्य दर्शनों के) वक्तव्य पक्ष (के समान); अविसिट्ठा—अविशिष्ट (सामान्य हैं); उ—तो; जाणओ—जानने वाला; अत्थगईय—अर्थ (की) गति (के अनुसार); तेसिं—उन (सूत्रों) का; वियंजणं—प्रकटन (व्यक्त); कुणइ—करता है।

सामर्थ्य के अनुसार सूत्रों की व्याख्या :

भावार्थ—जिस प्रकार से अन्य दर्शनों में कथन है, वैसे ही सामान्य रूप से सूत्रों में

1. ब° भाणं।
2. ब° वत्तवय।

यदि अर्थ प्रतिभासित हो, तो विरोधी प्रतीत होता है। वास्तव में सूत्रों में परस्पर विरुद्ध कथन नहीं है। अतः ज्ञाता पुरुष अर्थ की सामर्थ्य के अनुसार उन सूत्रों की व्याख्या करे।

जेण मणोविसयगयाण दंसणं णत्थि दव्वजायाणं[1]।
तो मणपज्जवणाणं णियमा णाणं तु णिद्दिट्ठं ॥19॥

येन मनोविषयगतानां दर्शनं नास्ति द्रव्यजातानाम्।
ततो मनःपर्ययज्ञानं नियमाज्ज्ञानं तु निर्दिष्टम् ॥19॥

शब्दार्थ—जेण—जिस (कारण) से; मणोविसयगयाणं—मन (के) विषयगत; दव्वजायाणं—द्रव्य-समूह का; दंसणं—दर्शन; णत्थि-नहीं (होता) है; तो—इसलिए; मणपज्जवणाणं—मनःपर्ययज्ञान को; णियमा—नियम से; णाणं—ज्ञान; णिद्दिट्ठं—निर्दिष्ट (किया गया) है।

मनःपर्ययज्ञान ही है; दर्शन नहीं :

भावार्थ—मनःपर्ययज्ञान में विषयभूत पदार्थों का सामान्य रूप से ग्रहण नहीं होता, किन्तु विशेष रूप से ग्रहण होता है। अतएव मनःपर्ययदर्शन नहीं होता। सामान्य रूप से ज्ञान के पहले दर्शन होता है, किन्तु मनःपर्ययज्ञान में ऐसा नियम नहीं है। मनःपर्ययज्ञान बिना दर्शन के ही होता है। मनःपर्ययज्ञान में विशेष का ही ग्रहण होता है; सामान्य का नहीं। अतः मनःपर्ययज्ञान ही है; दर्शन नहीं है।

चक्खुअचक्खुअवहिकेवलाण समयम्मि दंसणवियप्पा[2]।
परिपंढिया[3] केवलणाणदंसणा तेण ते अण्णा ॥20॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां समये दर्शनविकल्पाः।
परिपठिताः केवलज्ञानदर्शने तेन ते अन्ये ॥20॥

शब्दार्थ—समयम्मि—आगम में; चक्खु—चक्षु (दर्शन); अचक्खु—अचक्षु (दर्शन); अवहि—अवधि (दर्शन); केवलाण—केवल (दर्शन); (ये) दंसणवियप्पा—दर्शन (के) भेद (प्रकट किए गए हैं); (अतएव) परिपढिया—पढ़े गए; तेण—उस से; ते—वे; केवलणाणदसंणा—केवलज्ञान (और) केवलदर्शन; अण्णा—अन्य (भिन्न) (हैं)।

---

1. प्रकाशित पाठ 'दव्वजायाण' है।
2. अ" दंसणविअप्पा, ब" दंसणविगप्पो।
3. द" परिपेढिया।

केवलदर्शन, केवलज्ञान कहने का तात्पर्यार्थ :

भावार्थ—आगम में सामान्य को ग्रहण करने वाले दर्शन के चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इस प्रकार के चार भेद किये गए हैं। यद्यपि केवलदर्शन और केवलज्ञान में भेद नहीं है, किन्तु दर्शन के भेदों में केवलदर्शन पाठ आता है। दर्शन का ग्राह्य सामान्य धर्म है और ज्ञान का ग्राह्य विशेष धर्म है। इसलिए यह भेद ग्राह्य पदार्थ में है। उनको ग्रहण करने वाले उपयोग में दर्शन और ज्ञान का भेद रूप व्यवहार किया गया है। परन्तु यहाँ पर उपयोग के भेद की अपेक्षा से केवलदर्शन, केवलज्ञान आदि व्यवहार नहीं किया गया है; क्योंकि मूल में उपयोग तो एक ही है। कहा भी है—

दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं।।—पंचास्तिकाय, गा.42

दर्शन के भी चार भेद हैं—चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन, अविधदर्शन और अनन्तदर्शन जिसका विषय ऐसा अविनाशी केवलदर्शन है।

तथा— किंचिदित्यवभास्यत्र वस्तुमात्रमपोद्धृतं।
तद्ग्राहि दर्शनं ज्ञेयमवग्रहनिबन्धनम्।।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1, 12

"कुछ है" इस प्रकार जहाँ प्रातिभास होता है तथा जो सामान्य वस्तु मात्र को ग्रहण करता है, केवल महासत्ता का आलोचन करने वाला वह दर्शन है। इस प्रकार दर्शन सामान्य को और ज्ञान विशेष को ग्रहण करता है

दंसणमोग्गहमेत्तं घडो त्ति णिव्वण्णणा[1] हवइ णाणं।
जह एत्थ केवलाण वि विसेसणं[2] एत्तियं चेव ॥21॥

दर्शनमवग्रहमात्रं घट इति निर्वर्णना भवति ज्ञानम्।
यथाऽत्र केवलयोरपि विशेषणमेतावत् चैव ॥21॥

शब्दार्थ—जह—जैसे; ओग्गहमेत्तं—अवग्रह (विकल्प ज्ञान) मात्र; दंसणं—दर्शन (है); घडो—घड़ा; त्ति—यह (है); णिव्वण्णणा—देखने से; णाण—(मति) ज्ञान; हवइ—होता (है); (तह—वैसे) एत्थ—यहाँ; केवलणाण—केवलज्ञान; (और केवलदर्शन में), वि—भी; एत्तियं—इतनी (ही); विसेसणं—विशेषता; चेव—और भी (है)।

केवलदर्शन और केवलज्ञान में अन्तर क्या ? :

भावार्थ—केवलदर्शन और केवलज्ञान में अभेद मानता हुआ भी जैन मतावलम्बी यह

1. ब' घटो त्ति निवत्तणा।
2. ब' केवलाणं विसेसणं।

कहना चाहता है कि एक ही केवल उपयोग के ये भिन्न-भिन्न अंश हैं, अतः केवल नाम का भेद है। आगम में मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद कहे गए हैं। मूल में उपयोग रूप मति एक ही है। विषय और विषयी का सन्निपात होने पर प्रथम दर्शन होता है। उसके पश्चात् जो पदार्थ का ग्रहण होता है, वह अवग्रह कहलाता है। अवग्रह में पदार्थ का स्पष्ट बोध नहीं होता। किन्तु अवग्रह संशयात्मक नहीं है, निश्चयात्मक है। अवग्रह सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन है। दर्शन तो सामान्य एवं वर्णन रहित है, किन्तु अवग्रह उससे विशिष्ट होने पर भी वर्णन रहित जैसा है। पश्चात् वर्णन या विकल्पपूर्वक पदार्थ का बोध होता है। अतः मतिज्ञान उपयोग रूप है।

दंसणपुव्वं णाणं णाणणिमित्तं तु दंसणं णत्थि।
तेण सुविणिच्छियामो[1] दंसणणाणा[2] ण अण्णत्तं ॥22॥

दर्शनपूर्वं ज्ञानं ज्ञाननिमित्तं तु दर्शनं नास्ति।
तेन सुविनिश्चनुमः दर्शनज्ञाने नान्यत्वम् ॥22॥

शब्दार्थ—दंसणपुव्वं—दर्शन पूर्वक; णाणं—ज्ञान (होता है); णाणणिमित्तं—ज्ञान (के) निमित्त (पूर्वक); तु—तो; दंसणं—दर्शन; णत्थि—नहीं (है); तेण—इससे; (हम), सुविणिच्छियामो—भलीभाँति निश्चय करते (हैं); दंसणणाणा—दर्शन (और) ज्ञान (में); ण—नहीं (हैं); अण्णत्तं—अन्यत्व (एकपना)।

केवल उपयोग के ये दो अंश :

भावार्थ—यह तो अत्यन्त स्पष्ट है कि दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है; ज्ञानपूर्वक दर्शन नहीं होता। इससे ही हम निश्चय करते हैं कि दर्शन और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु दर्शन और ज्ञान का यह भेद व्यवहारी अल्पज्ञ जीवों में होता है। सर्वज्ञ भगवान् में इनका भेद-व्यवहार नहीं है। उनके तो एक ही उपयोग होता है। उस केवल उपयोग के ये दो अंश हैं—एक अंश का नाम केवलदर्शन और दूसरे का नाम केवलज्ञान है।

जइ ओग्गहमेत्तं दंसणं त्ति[3] मण्णसि विसेसियं[4] णाणं।
मइणाणमेव दंसणमेवं सइ होइ णिप्पण्णं[5] ॥23॥

---

1. स' भुवि णिच्छयामो।
2. ब' दंसणनाणे।
3. ब' दंसणमिति।
4. स' विसेसिआ।
5. ब' होइ आपन्नं।

यदि अवग्रहमात्रं दर्शनमिति मन्यसे विशेषितं ज्ञानम्।
मतिज्ञानमेव दर्शनमेवं सति भवति निष्पन्नम् ॥23॥

शब्दार्थ—जइ—यदि; ओग्गह—अवग्रह (आद्य ग्रहण); मेत्तं—मात्र; दंसणं—दर्शन (है); त्ति—यह (तथा); विसेसियं—विशेष (बोध); णाणं—ज्ञान (है); मण्णसि—मानते हो (तो); एवं—इस प्रकार; सइ—होने पर; (यह मतिज्ञान), णिप्पण्णं—निष्पन्न (फलित); होइ—होता (है)।

मतिज्ञान ही दर्शन :

भावार्थ—यदि अवग्रह मात्र दर्शन है और विशेष बोध ज्ञान है, जैसा कि आप मानते हैं, तो इस मान्यता में मतिज्ञान ही दर्शन है, ऐसा इससे फलित होता है। जो यह कहता है कि मतिज्ञान के अवग्रह रूप अंश को दर्शन और ईहा अंश को ज्ञान कहते हैं, तो इस मान्यता से भी यही सिद्ध होता है कि मतिज्ञान ही दर्शन है। 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' में स्पर्शनदर्शन, रसनादर्शन, घ्राणजदर्शन आदि का उल्लेख मिलता है। (द्रष्टव्य है—गा. 4, पृ. 11) यथार्थ में सर्वज्ञ का विषय अचक्षुदर्शन-ग्राह्य है।

एवं सेसिंदियदंसणम्मि[1] णियमेण होइ ण य जुत्तं।
अह तत्थ णाणमेत्तं घेप्पइ चक्खुम्मि वि तहेव।। 24।।

एवं शेषेन्द्रियदर्शने नियमेन भवति न च युक्तम्।
अथ तत्र ज्ञानमात्रं गृह्यते चक्षुष्यपि तथैव।। 24।।

शब्दार्थ—एवं—इस प्रकार (होने पर); सेसिंदियदंसणम्मि—शेष इन्द्रियों (के) दर्शन में (भी); णियमेण—नियम से (यही मानना पड़ेगा, किन्तु); होइ—होता (है); ण—नहीं; य—और; जुत्तं—युक्त; अह—और; तत्थ—वहाँ (उन इन्द्रिय विषयक पदार्थों में); णाणमेत्तं—ज्ञान मात्र; घेप्पइ—ग्रहण किया जाता (है) (तो); चक्खुम्मि—चक्षु (इन्द्रिय के विषय) में; वि—भी; तहेव—उसी प्रकार (से) ही (मान लेना चाहिए)।

इन्द्रियों से ज्ञान होता है, दर्शन नहीं :

भावार्थ—यदि आप यह मानते हैं कि चक्षु इन्द्रिय और मन को छोड़ कर शेष इन्द्रियजन्य अवग्रह ज्ञान रूप होता है और चक्षुर्जन्य अवग्रह दर्शन रूप होता है, तो यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि अन्य इन्द्रियों से जिस प्रकार ज्ञान होता है; दर्शन नहीं; वैसे ही चक्षु इन्द्रिय के विषय में भी यह मान लेना चाहिए कि उससे भी अवग्रहादि रूप पदार्थों का ज्ञान होता है। इस प्रकार चक्षुदर्शन की सिद्धि नहीं हो सकती।

---

1. ब' दंसणेसु।

विशेष—ग्रन्थकार श्रोत्रदर्शन, घ्राणदर्शन आदि नहीं मानते हैं; केवल चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन ही उन्हें मान्य हैं। अचक्षुदर्शन से यहाँ मनोदर्शन अर्थ लिया गया है। क्योंकि चक्षु इन्द्रिय और मन ये दोनों अप्राप्यकारी माने गए हैं। अन्य चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी नहीं हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी ने चक्षु और मन को अप्राप्यकारी माना है तथा अन्य चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी एवं अप्राप्यकारी दोनों रूपों में स्वीकार किया है।

णाणं अप्पुट्ठे अविसिए य अत्थम्मि दंसणं होइ।
मोत्तूण लिंगओ जं अणागयाईयविसएसु[1] ॥25॥

ज्ञानमस्पृष्टे अविषये चार्थे दर्शनं भवति।
मुक्त्वा लिंगतो यमानागताऽतीतविषयेषु ॥25॥

शब्दार्थ—अप्पुट्ठे—अस्पृष्ट में; अविसए—अविषय (भूत पदार्थों) में; य—और; अत्थम्मि—पदार्थ में; दंसणं—दर्शन; होइ—होता (है); अणागयाईयविसएसु—अनागत (भविष्य) आदि (के) विषयों (पदार्थों) में; लिंगओ—हेतु से (जो ज्ञान होता है); जं—जिसे (उसे); मोत्तूण—छोड़ कर (दिया जाता है)।

आगम में चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन क्यों ? :

भावार्थ—आगम ग्रन्थों में जो चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन शब्द मिलते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि वे मतिज्ञान रूप हैं। चक्षु इन्द्रिय किसी भी विषयभूत पदार्थ से सन्निकृष्ट नहीं होती अर्थात् आँख किसी भी वस्तु से जाकर भिड़ती नहीं है, फिर भी, दूरवर्ती चन्द्र, सूर्य आदि पदार्थों का बोध कराती है। यह बोध ही चक्षुदर्शन है। इसी प्रकार किसी भी इन्द्रिय के विषयभूत हुए बिना मानसिक चिन्तन से सूक्ष्म परमाणु आदि का जो ज्ञान होता है, उसे अचक्षुदर्शन कहा गया है। ये दोनों ही अपने साध्य के अविनाभावी हेतु से उत्पन्न होने के कारण अनुमान के अन्तर्गत ग्रहण नहीं किए गए हैं।

विशेष—जिस प्रकार अप्राप्यकारी पदार्थ विषयक सम्पूर्ण ज्ञान चक्षुदर्शन नहीं है, उसी प्रकार इन्द्रिय ग्राह्य सम्पूर्ण मानसिक ज्ञान अचक्षुदर्शन नहीं है; जैसा कि अनुमान है। अतएव गाथाकार ने अनुमान को छोड़ दिया है।

मणपज्जवणाणं दंसण त्ति[2] तेणेह[3] होइ ण य जुत्तं।
भण्णइ णाणं णोइंदियम्मि[4] ण घडादओ जम्हा ॥26॥

1. स्त अणागयाईयविसयेसु।
2. ब" दंसणं ति।
3. स्त तेणेव।
4. ब" नोइंदिअं ति।

मनःपर्यवज्ञानं दर्शनमिति तेनेह भवति न च युक्तम्।
भण्यते ज्ञानं नोइन्द्रिये न घटादयो यस्मात् ॥26॥

शब्दार्थ—तेणेह—इसलिए यहाँ (व्याख्या के अनुसार प्रसंगतः); मणपज्जवणाणं—मनः पर्ययज्ञान को; दंसणं—दर्शन (मानना पड़ेगा); त्ति—यह; होइ—होता (है); ण—नहीं; य—और; जुत्तं—युक्त (है); भण्णइ—कहा जाता (है); जम्हा—जिस से; णोइंदियम्मि—नोइन्द्रिय (मन के विषय) में; णाणं—ज्ञान (प्रवर्तमान होता है); ण—नहीं; घडादओ—घट आदि (विषय हैं)।

मनःपर्ययज्ञान में मनःपर्ययदर्शन का प्रसंग नहीं :

भावार्थ—'दर्शन' शब्द की उक्त व्याख्या के अनुसार मनःपर्ययज्ञान को मनःपर्ययदर्शन रूप मानने का प्रसंग हो जाता है, किन्तु आगम में मनःपर्ययदर्शन नहीं माना गया है। इसका कारण यह है कि परकीय मनस्थित मनोवर्गणा रूप मन को मनःपर्ययज्ञान विषय करता है। अतः मन के साथ अस्पृष्ट जो घट आदि हैं, वे इसके विषय नहीं हैं; उनका विषय तो अनुमान है। इस प्रकार मनःपर्यय ज्ञान रूप ही होता है; दर्शन रूप नहीं।

मइसुयणाणणिमित्तो छउमत्थे होइ अत्थउवलंभो।
एगयरम्मि वि तेसिं ण दंसणं दंसणं कत्तो ॥27॥

मतिश्रुतज्ञाननिमित्तो छद्मस्थे भवति अर्थोपलम्भः।
एकतरस्मिन्नपि तयोर्न दर्शनं दर्शनं कुतः ॥27॥

शब्दार्थ—छउमत्थे—छद्मस्थ (अल्प ज्ञान वाले जीवों) में; मइसुयणाण—मतिज्ञान (और) श्रुतज्ञान (के); णिमित्तो—निमित्त (से); अत्थउवलंभो—पदार्थ (का) ज्ञान; होइ—होता (है); तेसिं—उन दोनों (ज्ञानों में से) में; एगयरम्मि—एक में (यदि); ण—नहीं; दंसणं—दर्शन (ज्ञान के पहले वस्तु को देखना है); (तो फिर) दंसणं—दर्शन; कत्तो—कहाँ से (हो सकता है)।

अल्पज्ञ का पदार्थ-ज्ञान दर्शनपूर्वक :

भावार्थ—अल्पज्ञों को पदार्थ का ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के निमित्त से होता है। मतिज्ञान से होने वाला वस्तु का ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। किन्तु श्रुत (आगम) से होने वाला पदार्थ-ज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं होता। अतः शास्त्र की इस मर्यादा को ध्यान में रखकर दर्शनोपयोग की स्वतन्त्र सिद्धि हेतु इस गाथा में कहा गया है कि यदि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों में से किसी एक के पहले दर्शन का होना न माना जाए, तो फिर दर्शन कब और कैसे हो सकता है ?

जं पच्चक्खग्गहणं ण एंति सुयणाणसम्मिया[1] अत्था।
तम्हा दंसणसद्दो ण[2] होइ सयले[3] वि सुयणाणे[4] ॥28॥

यस्मात्प्रत्यक्षग्रहणं न यान्ति श्रुतज्ञानसम्मिता अर्थाः।
तस्माद्दर्शनशब्दो न भवति सकलेऽपि श्रुतज्ञाने ॥28॥

शब्दार्थ—जं—जिस कारण; सुयणाणसम्मिया—श्रुतज्ञान सम्मित (आगम के ज्ञान में जाने गए); अत्था—पदार्थ; पच्चक्खग्गहणं—प्रत्यक्ष ग्रहण को; ण—नहीं; एंति—प्राप्त होते (हैं); तम्हा—इस कारण; सयले—सम्पूर्ण में; वि—भी; सुयणाणे—श्रुतज्ञान में; दंसणसद्दो—दर्शन शब्द (लागू); ण—नहीं; होइ—होता (है)।

श्रुतज्ञान में दर्शन शब्द लागू नहीं :

भावार्थ—शास्त्र-ज्ञान से जिन पदार्थों को जाना जाता है, वे सब इन्द्रियों से अस्पृष्ट तथा अग्राह्य होते हैं। अतः अन्य ज्ञानों के साथ जैसे दर्शन शब्द संयुक्त होता है, वैसे ही श्रुतज्ञान के साथ दर्शन शब्द प्रयुक्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष की भाँति स्पष्ट रूप से ग्रहण नहीं करता। दर्शन से उनका ग्रहण स्पष्ट रूप से होता है, जबकि श्रुतज्ञान से अस्पष्ट रूप से एवं परोक्ष रूप से ग्रहण होता है। इस प्रकार जितना भी श्रुतज्ञान है, उसके साथ दर्शन शब्द लागू नहीं होता।

जं अप्पुट्ठा भावा ओहिण्णाणस्स होंति पच्चक्खा।
तम्हा ओहिण्णाणे दंसणसद्दो वि उवउत्तो ॥29॥

यस्मादस्पृष्टा भावा अवधिज्ञानस्य भवन्ति प्रत्यक्षाः।
तस्मादवधिज्ञाने दर्शनशब्दोप्युपयुक्तः ॥29॥

शब्दार्थ—जं—क्योंकि; अप्पुट्ठा—अस्पृष्ट; भावा—पदार्थ; ओहिण्णाणस्स—अवधिज्ञान के; पच्चक्खा—प्रत्यक्ष; होंति—होते (हैं); तम्हा—इसलिए; ओहिण्णाणे—अवधिज्ञान में; वि—भी; दंसणसद्दो—दर्शन शब्द; उवउत्तो—उपयुक्त (है)।

अवधिज्ञान में दर्शन शब्द का प्रयोग उपयुक्त :

भावार्थ—जिस प्रकार मतिज्ञान में दर्शन शब्द प्रयुक्त होता है, वैसे ही यह अवधिज्ञान

---

1. ब° भणंति सुअनाणसंमिआ।
2. स° न।
3. ब° सयली।
4. ब° 28 वीं गाथा के स्थान पर 29 वीं गाथा है।

में भी लागू होता है; क्योंकि अवधिज्ञान भी इन्द्रियों की सहायता से अस्पृष्ट एवं अग्राह्य पदार्थों को स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष जानता है। दर्शन शब्द की व्याख्या के अनुसार अस्पृष्ट पदार्थ अवधिज्ञान के प्रत्यक्ष होते हैं, इसलिए अवधिज्ञान में 'दर्शन' शब्द का प्रयुक्त होना उपयुक्त है।

जं अप्पुट्ठे भावे जाणइ पासइ य केवली णियमा।
तम्हा तं णाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धं ॥30॥

यस्मादस्पृष्टान्भावान् जानाति पश्यति च केवली नियमात्।
तस्मात् तं ज्ञानं दर्शनं चाविशेषतः सिद्धे ॥30॥

शब्दार्थ—जं—जिस कारण; केवली—केवली (भगवान्); णियमा—नियम से; अप्पुट्ठे—अस्पृष्टों को; भावे—पदार्थों को; जाणइ—जानता (है); पासइ—देखता (है); य—और; तम्हा—इस कारण; तं—उसे; णाणं—ज्ञान; दंसणं—दर्शन; च—और; अविसेसओ—भेद रहित; सिद्धं—सिद्ध (होते हैं)।

केवली के भेदविहीन ज्ञान, दर्शन :

भावार्थ—केवली भगवान् नियम से अस्पृष्ट पदार्थों को जानते देखते हैं, इसलिए उनमें ज्ञान, दर्शन भेदविहीन सिद्ध होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि केवली परमात्मा सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत् जानते, देखते हैं, इसलिए तीनों लोकों के पदार्थ उनके ज्ञान से स्पृष्ट नहीं होते हैं। वे समस्त पदार्थों का साक्षात् रूप से ग्रहण करते हैं, जिससे उनमें दर्शन और अनन्त ज्ञान रूप एक ही उपयोग सिद्ध होता है।

साई अपज्जवसियं त्ति[1] दो वि ते ससमयओ हवइ एवं।
परतित्थियवत्तव्वं[2] च एगसमयंतरुप्पाओ ॥31॥

साद्यपर्यवसितमिति द्वावपि ते स्वसमयो भवत्येवम्।
परतीर्थिकवक्तव्यं चैकसमयान्तरोत्पादः ॥31॥

शब्दार्थ—ते—वे (अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान); दो वि—दोनों ही; साई—सादि (आदि वाले); अपज्जवसियं—अनन्त (हैं); एवं—इस प्रकार; ससमयओ—स्व समय (परमात्मा); हवइ—होता (है); एगसमयंतरुप्पाओ—एक समय (के) अन्तर (से) उत्पन्न होता है उपयोग(यह); त्ति—यह; च—और; परतित्थियवत्तव्वं—अन्य मत (का) वक्तव्य (है)।

1. ब' वि।
2. अ' तित्थय। स' तित्थिय।

युगपत् अनन्तदर्शन–ज्ञानयुक्त स्वसमय :

भावार्थ–अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान रूप दोनों उपयोग सादि अनन्त हैं अर्थात् दोनों एक साथ होते हैं–यही स्वसमय है। जो यह कथन करते हैं कि इन दोनों उपयोग की उत्पत्ति केवली परमात्मा में एक समय के अन्तर से होती है–प्रथम अनन्तदर्शन होता है, फिर एक समय पश्चात् अनन्तज्ञान होता है–यह वक्तव्य परसमय (अन्य मत) है।

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावओ भावे।
पुरिसस्साभिणिबोहे दंसणसद्दो हवइ जुत्तो ॥32॥

एवं जिनप्रज्ञप्ते श्रद्दधानस्य भावतो भावान्।
पुरुषस्याभिनिबोधे दर्शनशब्दो भवति युक्तः ॥32॥

शब्दार्थ–एवं–इस प्रकार; जिणपण्णत्ते–जिन (तीर्थंकर) कथित; भावे–पदार्थों को (का); भावओ–भावपूर्वक; सद्दहमाणस्स–श्रद्धान करने वाले का; पुरिसस्स–पुरुष के; अभिणिबोहे–अभिनिबोध (मन और इन्द्रियों की सहायता से होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान) में; दंसणसद्दो–दर्शन शब्द; जुत्तो–युक्त (उपयुक्त); हवइ–होता (है)।

तत्त्व-रुचि रूप श्रद्धान सम्यग्दर्शन :

भावार्थ–जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित तत्त्वों का जो भावपूर्वक श्रद्धान है एवं मन तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान से युक्त सम्यग्दर्शन है, उसी के लिए दर्शन शब्द प्रयुक्त होता है। बिना प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्यग्दर्शन नहीं होता। तत्त्व में रुचि होना, हेय-उपादेय का ज्ञान होना, भक्ष्य-अभक्ष्य का, सेव्य-असेव्य का विचार होना आदि मतिज्ञान पूर्वक होता है; किन्तु यह परमार्थ प्रत्यक्ष नहीं है। मन तथा इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न होने वाला यह आभिनिबोधिक ज्ञान है। इससे युक्त सम्यग्दर्शन के लिए 'दर्शन' शब्द का प्रयोग करना उपयुक्त है जो स्वात्मानुभूति पूर्वक होता है।

सम्मण्णाणे णियमेण दंसणं दंसणे उ भयणिज्जं[1]।
सम्मण्णाणं च इमं ति अत्थओ[2] होइ उववण्णं ॥33॥

सम्यग्ज्ञाने नियमेन दर्शनं दर्शने तु भजनीयम्।
सम्यग्ज्ञानं चेदमित्यर्थतः भवत्युपपन्नम् ॥33॥

शब्दार्थ–सम्मण्णाणे–सम्यग्ज्ञान में (प्रकट होने पर); णियमेण–नियम से; दंसणं–दर्शन

1. ब° भइअव्वं।
2. स° अत्थत्तं।

(सम्यग्दर्शन होता है); दंसणे—दर्शन में (के होने पर); उ—तो; सम्मण्णाणं—सम्यग्ज्ञान; भयणिज्जं—भजनीय (हो या न हो); इमं—यह; ति—इस (प्रकार); अत्थओ—अर्थ से; उववण्णं—सिद्ध; होइ—होता (है)।

सम्यग्ज्ञान होने पर नियम से सम्यग्दर्शन :

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान के होने पर नियम से सम्यग्दर्शन होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान होने का कोई नियम नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। यह बात अर्थ के बल से सिद्ध होती है। उदाहरण के लिए, एकान्त तत्त्वरूप श्रद्धान भी दर्शन है, किन्तु वह दर्शन सम्यग्ज्ञान रूप नहीं है; परन्तु अनेकान्त तत्त्वरूप जो रुचि है, वह दर्शन है और वह दर्शन सम्यग्ज्ञानरूप है। इस प्रकार यहाँ पर सम्यग्दर्शनरूप दर्शन में और सम्यग्ज्ञान में किसी अपेक्षा से अभेद का कथन किया गया है।

केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते[1]।
तेत्तियमित्तोत्तूणा[2] केइ विसेसं ण इच्छंति ॥34॥

केवलज्ञानं साद्यपर्यवसितमिति दर्शितं सूत्रे।
तावन्मात्रेण दृप्ताः केऽपि विशेषं नेच्छन्ति ॥34॥

शब्दार्थ—केवलणाणं—केवलज्ञान; साई—सादि; अपज्जवसियं—अपर्यवसित (अविनश्वर); (है), ति—यह (ऐसा); सुत्ते—सूत्र में; दाइयं—दर्शाया (गया है); तेत्तियमित्तोत्तूणा—उतने (इतने) मात्र (से) गर्वित; केइ—कुछ; विसेसं—विशेष (केवलज्ञान को पर्यवसित) को; ण—नहीं; इच्छंति—चाहते (मानते) हैं।

एक बार होने पर केवलज्ञान सतत :

भावार्थ—केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यह एकान्त मान्यता भेद-दृष्टि को लेकर है। जैनदर्शन में गुण और गुणी में न सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद। किन्तु इन दोनों में कथंचित् भेदाभेद कहा गया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन आत्मा के निज गुण हैं, आत्मस्वरूप हैं। द्रव्यदृष्टि से ये दोनों अनादि अनन्त हैं। परन्तु अनादि काल से आत्मा कर्मों से मलिन हो रही है, इसलिए इसके निज गुण भी मलिन हैं; परन्तु जब आत्मा से केवलज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मों का विलय हो जाता है, तब आत्मा में केवलदर्शन और केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इस दृष्टि से केवलज्ञान

1. ब' समये।
2. ब' नत्तिअमेत्तो वूणो।

उत्पन्न होता है और फिर सतत बना रहता है। एक बार केवलज्ञान के प्रकट हो जाने पर यह त्रिकाल में भी अपने प्रतिपक्षी कर्म से आक्रान्त नहीं होता। इस दृष्टि से यह अपर्यवसित है। किन्तु यह एकान्त नहीं है; किसी अपेक्षा से इसे पर्यवसित भी कहा जाता है; ऐसा कुछ कहना चाहते हैं। परन्तु—

जे संघयणाईया भवत्थकेवलि विसेसपज्जाया।
ते सिज्झमाणसमये[1] ण होंति विगयं[2] तओ होइ ॥35॥

ये संहननादयः भवस्थकेवलिविशेषपर्यायाः।
ते सिद्धमानसमये न भवन्ति विगतं ततो भवति ॥35॥

शब्दार्थ—भवत्थकेवलि—भवस्थ केवली (की); विसेसपज्जाया—विशेष पर्यायें (संहनन आदि रूप); जे—जो; संघयणाईया—संहनन आदि (हैं); ते—वे; सिज्झमाणसमये—सिद्ध होने के समय में; ण—नहीं; होंति—होती (रहती) हैं; तओ—इस कारण; विगयं—विगत (पर्यवसित); होइ—होती है।

शाश्वत होने पर भी किसी अपेक्षा से नश्वर :

भावार्थ—जो तेरहवें गुणस्थानवर्ती भवस्थकेवली वज्रवृषभनाराचसंहनन के धारी हैं, वे केवलदर्शन, केवलज्ञान आदि से सम्पन्न हैं, जिनके आत्मप्रदेशों का एकक्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध है तथा अघातियों कर्मों का नाश कर जो सिद्ध पर्याय को प्राप्त करने वाले हैं, उनके शरीरादि आत्मप्रदेशों का एवं केवलज्ञान-दर्शनादि का सम्बन्ध छूट जाता है और सिद्ध अवस्था रूप नवीन सम्बन्ध होता है, इसलिए उन्हें पर्यवसित कहा जाता है।

सिद्धत्तणेण य पुणो उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ।
केवलभावं तु पडुच्च केवलं दाइयं सुत्ते ॥36॥

सिद्धत्वेन च पुनः उत्पन्न एष अर्थपर्यायः।
केवलभावं तु प्रतीत्य केवलं दर्शितं सूत्रे ॥36॥

शब्दार्थ—एस—यह (केवलज्ञान रूप); अत्थपज्जाओ—अर्थपर्याय; सिद्धत्तणेण—सिद्धत्व (रूप) से; य—और; पुणो—फिर; उप्पण्णो—उत्पन्न (होती है); केवलभावं—केवलभाव (की); पडुच्च—अपेक्षा (से); केवलं—केवल को (सादि अपर्यवसित); सुत्ते—सूत्र में; दाइयं—दिखाया (गया है)।

1. ब° समयंपि।
2. ब° विगइं।
3. ब° समये।

और :

भावार्थ—यह केवलज्ञान रूप अर्थपर्याय सिद्धपने में उत्पन्न होती है। केवलभाव की अपेक्षा से यह कभी नष्ट नहीं होती। इस भाव को लेकर ही सूत्र में केवलज्ञान को शाश्वत बताया गया है। एक बार उत्पन्न होने के बाद वह कभी नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार किसी प्रकार का आवरण भी उस पर नहीं आता। वास्तव में यह कथन व्यवहार दृष्टि से है, परमार्थ से तो यह अनादि, अनन्त है। जीव के स्वाभाविक गुण उसमें सदा, सर्वदा विद्यमान ही रहते हैं। इसलिये केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि शाश्वत ही हैं।

जीवो अणाइणिहणो केवलणाणं तु साइयमणंतं।
इय थोरम्मि[1] विसेसे[2] कह जीवो केवलं होइ ॥37॥

जीवोऽनादिनिधनः केवलज्ञानं तु सादिकमनन्तम्।
इति स्थूले विशेषे कथं जीवः केवलं भवति ॥37॥

शब्दार्थ—जीवो—जीव; अणाइणिहणो—अनादिनिधन (है); केवलणाणं—केवलज्ञान; तु—तो; साइयमणंतं—सादि अनन्त (है); इय थोरम्मि—स्थूल रूप (सामान्य रूप) में (और); विसेसे—विशेष (पर्याय रूप) में; जीवो—जीव; केवलं—केवल (ज्ञान रूप); कह—कैसे; होइ—होता (हो सकता) है।

परस्पर विरुद्धता होने पर केवलज्ञान कैसे ? :

भावार्थ—"केवलज्ञानावरण कर्म के सर्वथा नष्ट होने पर भवस्थकेवली के केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है"—यह सुन कर कोई शंका करता है कि गुण-गुणी, द्रव्यपर्याय में अभेद मानने से केवलज्ञान सादि न हो कर अनादि हो जाता है और यदि केवलज्ञान को सादि अनन्त मानते हैं, तो जीव को भी सादि अनन्त मानने का प्रसंग आता है? जिस प्रकार छाया तथा आतप में परस्पर भेद है, उसी प्रकार जीव और केवलज्ञान में विरुद्ध धर्म होने के कारण परस्पर भेद मानना उचित है। अतएव जीव केवलज्ञान रूप है एवं अनादि-अनन्त है—ये दोनों बातें एक साथ कैसे सम्भव हैं?

तम्हा अण्णो जीवो अण्णे णाणाइपज्जवा तस्स।
उवसमियाईलक्खणविसेसओ केइ[3] इच्छंति ॥38॥

---

1. ब° थोरंमि।
2. स° एत्थोरम्मि।
3. ब° केवि।

तस्मादन्यो जीवः अन्ये ज्ञानादिपर्याया तस्य।
कैश्चिदौपशमिकादिलक्षणविशेषतः केचिदिच्छन्ति ॥38॥

शब्दार्थ—तम्हा—इस कारण; उवसमियाई—उपशम आदि; लक्खण—लक्षण (की); विसेसओ—भिन्नता से; जीवो—जीव; अण्णो—अन्य (भिन्न है और); तस्स—उस की; णाणाइपज्जवा—ज्ञान आदि पर्यायें; अण्णे—भिन्न (हैं) (ऐसा); केइ—कुछ; इच्छंति—कहते हैं।

गुणी से गुण भिन्न हैं? :

भावार्थ—इस प्रकार उपशम (भावों) आदि लक्षणों की भिन्नता से जीव भिन्न है और उसकी ज्ञान आदि पर्यायें भिन्न हैं। ऐसा किसी का मत है कि जहाँ जीव के उपशम आदि भाव बताये हैं, वहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन को क्षायिक भाव कहा गया है, किन्तु इसके साथ ही जीव की गणना पारिणामिक भाव में की गई है। अतएव इन दोनों में विरोध है। एक में ही परस्पर दो विरुद्ध धर्म नहीं बन सकते हैं, इसलिये यह नहीं मान सकते कि जीव केवलज्ञान स्वरूप है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव भिन्न है और उसकी ज्ञानादि पर्यायें भिन्न हैं।

अह पुण पुव्वपउत्तो अत्थो एगंतपक्खपडिसेहे।
तह वि उयाहरणमिणं ति हेउपडिजोयणं वोच्छं ॥39॥

अथ पुनः पूर्वप्रोक्तोऽर्थ एकान्तपक्षप्रतिषेधे।
तथाप्युदाहरणमिदमिति हेतुप्रतियोजनं वक्ष्ये ॥39॥

शब्दार्थ—अह—और; एगंतपक्खपडिसेहे—एकान्त पक्ष (के) प्रतिषेध में; अत्थो—अर्थ (विषय); पुव्वपउत्तो—पहले कहा (जा चुका है); तह वि—तो भी; हेउपडिजोयणं—हेतु (का साध्य के साथ अविनाभाव) सम्बन्ध (बताने वाला); इणं—यह; उयाहरणं—उदाहरण; वोच्छं—कहूँगा।

द्रव्य तथा पर्याय में कथंचित् भेद, कथंचित् अभेद :

भावार्थ—जो यह कहते हैं कि गुण तथा गुणी में सर्वथा भेद है, इसका उत्तर हम प्रथम काण्ड की बारहवीं गाथा में दे चुके हैं। फिर भी द्रव्य तथा पर्याय में कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद है, यही सिद्ध करना है। अतएव साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव सम्बन्ध बताने वाले दृष्टान्त के द्वारा समर्थन करते हैं। वस्तुतः प्रत्येक द्रव्य नित्यानित्यात्मक है। वस्तु में रहने वाले गुण नित्य हैं। अतः किसी अपेक्षा से गुण नित्य हैं और किसी अपेक्षा से गुण अनित्य हैं—ऐसा अनेकान्त नहीं है। किन्तु एक ही वस्तु, द्रव्य, गुण की अपेक्षा नित्य और पर्याय (परिणमनशीलता) की अपेक्षा

अनित्य कही जाती है। कथन-व्यवहार ऐसा ही है।

जह कोइ[1] सट्ठिवरिसो तीसइवरिसो णराहिवो जाओ[2]।
उभयत्थ जायसद्दो वरिसविभागं[3] विसेसेइ ॥40॥

यथा कोऽपि षष्टिवर्षः त्रिंशतिवर्षो नराधिपो जातः।
उभयत्र जातशब्दो वर्षविभागं विशेषयति ॥40॥

शब्दार्थ—जह—जैसे; कोइ—कोई (पुरुष); सट्ठिवरिसो—साठ वर्ष (का है); तीसइवरिसो—तीसवें वर्ष (में वह); णराहिवो—राजा; जाओ—हुआ (था); उभयत्थ—दोनों (में) यहाँ; जायसद्दो—जात शब्द; वरिसविभागं—वर्ष (का) विभाग; विसेसेइ—विशेषतः (प्रकट करता है)।

दृष्टांत :

भावार्थ—वर्तमान में जो साठ वर्ष का है, वह जब तीस वर्ष की अवस्था में राजा बना था, तो यह कहा गया कि यह राजा बना। जब यह राजा बना, तब मनुष्य था और इसके पहले भी मनुष्य था। तो राजा कौन बना? पर्याय से तो राजा होना उसकी अवस्था है जो उत्पन्न हुई है और उसके पूर्व की नृपहीनता की अवस्था का विनाश हो चुका है। इस प्रकार राजा से रहित अवस्था का पर्याय रूप से विनाश होने पर मनुष्य का भी नाश मान लिया जाता है। उसमें राजा की अवस्था उत्पन्न होने से उस अवस्था से विशिष्ट मनुष्य का उत्पाद भी मान लिया जाता है। यदि ऐसा न हो, तो यह मनुष्य राजा हुआ, यह व्यवहार नहीं बन सकता है।
उक्त गाथा "भूलाचार" में 'समयसाराधिकार' गा. 87 में निम्न-लिखित रूप में उपलब्ध होती है—

जह कोइ सट्ठिवरिसो तीसदिवरिसे णराहिवो जाओ।
उभयत्थ जायसद्दो वासविभागं विसेसेइ ॥

उक्त दोनों गाथाएँ समान हैं।

एवं जीवदव्वं[4] अणाइणिहणमविसेसियं जम्हा।
रायसरिसो उ केवलिपज्जाओ तस्स सविसेसो ॥41॥

---

1. स° जाइसिद्धो।
2. ब° जोउ।
3. ब° वासविभागं।
4. ब° जीवदव्वंऽवं।

एवं जीवद्रव्यमनादिनिधनमविशेषितं यस्मात्।
राजसदृशस्तु केवलिपर्यायस्तस्य सविशेषः ॥41॥

शब्दार्थ—एवं—इस प्रकार; अविसेसियं—सामान्यतः जीवद्दव्वं—जीव द्रव्य; जम्हा—जिस लिए; अणाइणिहणं—अनादिनिधन (है और); रायसरिसो—राजा (के) समान; उ—तो; तस्स—उसकी; केवलिपज्जाओ—केवली (रूप) पर्याय; सविसेसो—विशेष (है)।

जीव द्रव्य ध्रुव है :

भावार्थ—इस प्रकार सामान्य रूप से जीव द्रव्य अनादिनिधन व नित्य ही है। राजा के समान उसकी केवलज्ञान रूप पर्याय विशेष है। वह अपने मौलिक रूप की अपेक्षा नित्य ही है।

प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप से सदा काल नित्य, ध्रुव, शाश्वत है। गुणों का अभेद, अखण्ड पिण्ड कभी भी किसी गुण से रहित नहीं होता। जब कोई भी गुण कम नहीं होता, तो द्रव्य की अनित्यता का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। किन्तु प्रत्येक समय परिणमनशील द्रव्य में एक अवस्था में परिवर्तन होना और पलटकर नई अवस्था का उत्पन्न होना रूप जो उत्पाद-व्यय देखा जाता है, उस अपेक्षा से द्रव्य को अनित्य कह दिया जाता है।

जीवो अणाइणिहणो जीव त्ति य णियमओ ण वत्तव्वो।
जं पुरिसाउयजीवो देवाउयजीवियविसिट्ठो।। 42।।

जीवोऽनादिनिधनो जीव इति च नियमतो न वक्तव्यः।
यः पुरुषायुष्कजीवो देवायुष्कजीवितविशिष्टः ॥42॥

शब्दार्थ—जीवो—जीव; अणाइणिहणो—अनादिनिधन; जीव-जीव (ही है); त्ति—ऐसा; य—और; णियमओ—नियम से; ण—नहीं; वत्तव्वो—कहना चाहिए; (क्योंकि), जं—जो; पुरिसाउय—मनुष्यायु (वाले); जीवो—जीव (हैं और); देवाउयजीविय—देवायु जीवों (में); विसिट्ठो—विशिष्ट (भेद है, वह नहीं बन सकेगा)।

और :

भावार्थ—यदि सामान्य को विशेष से रहित माना जाय, तो एक पर्याय से विशिष्ट जीव का और दूसरी पर्याय से विशिष्ट जीव का परस्पर में जो भेद-व्यवहार देखा जाता है, उसका लोप हो जाएगा। किन्तु मनुष्य पर्याय वाले जीव में और देव पर्याय वाले जीव में भेद देखा जाता है। अतएव प्रत्येक द्रव्य पर्याय से सर्वथा भिन्न नहीं है। यही कारण है कि पर्याय की अनित्यता से द्रव्य भी कथंचित् अनित्य माना जाता है। इस

मान्यता के आधार पर जीव को सर्वथा अनादिनिधन नहीं मानना चाहिए।

संखेज्जमसंखेज्जं अणंतकप्पं च केवलं णाणं।
तह रागदोसमोहा अण्णे वि य जीवपज्जाया ॥43॥

संख्येयमसंख्येयमनन्तकल्पं च केवलं ज्ञानम्।
तथा रागद्वेषमोहा अन्येऽपि च जीवपर्यायाः॥43॥

शब्दार्थ—केवलं णाणं—केवलज्ञान; संखेज्जं—संख्यात; असंखेज्जं—असंख्यात, अणंतकप्पं—अनन्त रूप (प्रकार) (का है); च—और; तह—वैसे; रागदोसमोहा—राग, द्वेष (और) मोह (रूप); अण्णे वि—दूसरे भी; य—और; जीवपज्जाया—जीवपर्याय (हैं)।

केवलज्ञानः असंख्यात और अनन्त भी :

भावार्थ—केवलज्ञान संख्यात रूप है, असंख्यात रूप है और अनन्त रूप भी है। उसी प्रकार राग-द्वेष, मोह आदि जीव की पर्यायें भी संख्यात, असंख्यात और अनन्त रूप हैं। वस्तुतः मूल में आत्मा एक है, इसलिए उससे अभिन्न केवलज्ञान भी एक रूप है। दर्शन और ज्ञान की अपेक्षा केवल (कैवल्य) दो प्रकार का है। आत्मा उससे अभिन्न है और असंख्यात प्रदेश वाली है, इसलिए केवलज्ञान भी असंख्यात रूप है। केवलज्ञान अनन्त पदार्थों को जानता है। अनन्त पदार्थों को जानने के कारण केवलज्ञान अनन्त है। इसी प्रकार संसारी जीव रागी, द्वेषी, मोही है जो संख्यात, असंख्यात और अनन्तरूप है। इस प्रकार द्रव्य और पर्याय के कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद का कथन किया गया है। भेद किए बिना लोक-व्यवहार नहीं बन सकता है। व्यवहार चलाने के लिए भेद या भिन्नता बताना अनिवार्य है। लेकिन भेद वस्तु-स्वरूप न होने से परमार्थ नहीं है। मूल वस्तु-स्वरूप को समझने के लिए अखण्ड, अभेद वस्तु का ज्ञान अनिवार्य है। उसे समझे बिना द्रव्य की वास्तविकता का बोध नहीं हो सकता।

3

अणेगंतकंडयं

सामण्णम्मि विसेसो विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो[1]।
दव्वपरिणाममण्णं[2] दाएइ तयं च[3] णियमेइ ॥1॥

सामान्ये विशेषो विशेष-पक्षे च वचनविनिवेशः।
द्रव्यपरिणाममन्यं दर्शयति त्रयं च नियमयति ॥1॥

शब्दार्थ—सामण्णम्मि—सामान्य में; विसेसो—विशेष (का); विसेसपक्खे—विशेष पक्ष में; य—और; वयणविणिवेसो—(सामान्य का) वचन-विनिवेश (होता है) वह; दव्वपरिणाममण्णं—द्रव्य (द्रव्य का) परिणाम (और) अन्य (स्थिति) (को); दाएइ—दिखलाता (है); तयं—तीनों (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को); च—और; णियमेइ—नियत करता (है)।

सामान्य और विशेष में भेद नहीं :

भावार्थ—सामान्य में विशेष का और विशेष में सामान्य का जो कथन किया जाता है, वह द्रव्य, गुण और उसकी पर्यायों को भिन्न-भिन्न रूप में बतलाता हुआ तीनों को एक नियत करता है। भाव यह है कि प्रमाण विषयक पदार्थ 'सामान्यविशेषात्मक' है। पदार्थ सामान्य और विशेष इन दो धर्मों से युक्त है। सामान्य विशेष को छोड़ कर और विशेष सामान्य को छोड़ कर अन्यत्र स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नहीं होता। किन्तु वक्ता की विवक्षा से जो सामान्य होता है, वही विशेष बन जाता है। सामान्य विशेष के बिना और सामान्य के बिना विशेष किसी भी पदार्थ में नहीं रहते।

एगंतणिव्विसेसं[4] एगंतविसेसियं च वयमाणो।
दव्वस्स पज्जवे पज्जवा हि[5] दवियं णियत्तेइ ॥2॥

---

1. ब° वयणाविन्नासो।
2. ब° परिणामण्णं।
3. ब° ब। स° द।
4. अ° एयंत।
5. ब° य।

एकान्तनिर्विशेषमेकान्तविशेषितं च वदति।
द्रव्यस्य पर्यवे पर्यवः हि द्रव्यं निवर्तयन्ति ॥2॥

शब्दार्थ—एगंतणिव्विसेसं—एकान्त सामान्य (और); एगंतविसेसियं—एकान्त विशेष (का); च—और; वयमाणो—कथन करने वाला; दव्वस्स—द्रव्य की; पज्जवे—पर्यायों को; (और) पज्जवा—पर्यायों (से); हि—निश्चय (से); दवियं—द्रव्य को; णियत्तेइ—निष्पन्न करता (है)।

एकान्त : द्रव्य पर्याय से भिन्न :

भावार्थ—एकान्ती का यह कथन है कि सामान्य विशेष से रहित है और विशेष सामान्य से रहित है। अतः वह द्रव्य को पर्यायों से और पर्यायों को द्रव्य से अलग मानकर कहता है। किन्तु द्रव्य ऐसा भिन्न-भिन्न नहीं है। जहाँ द्रव्य है, वहाँ पर्याय है और जहाँ पर्याय है वहाँ द्रव्य है। वास्तव में दोनों एक-दूसरे से अलग नहीं हैं।

पच्चुप्पण्णं भावं विगयभविस्सेहिं जं समण्णेइ[1]।
एयं पडुच्चवयणं दव्वंतरणिस्सियं जं च[2] ॥3॥

प्रत्युत्पन्नं भावं विगतभविष्यद्भ्यां यत्समन्वेति।
एतत्प्रतीत्यवचनं द्रव्यान्तरनिस्सृतं यच्च ॥3॥

शब्दार्थ—जं—जो (वचन); पच्चुप्पण्णं—वर्तमान; भावं—पर्याय (का); विगयभविस्सेहिं—अतीत (तथा) भावी (पर्याय के साथ) से; समण्णेइ—समन्वय करता (है); जं—जो; च—और; दव्वंतरणिस्सियं—भिन्न द्रव्यों (से) सम्बन्धित (है); जं—जो; च—और; एयं—यह; पडुच्चवयणं—प्रतीत्यवचन (वास्तविक ज्ञानपूर्वक उच्चरित आप्त-वचन) है।

सामान्य का समन्वयकारी प्रतीत्यवचन :

भावार्थ—जो (वचन) वर्तमान पर्याय का भूत तथा भविष्यत् पर्याय के साथ समन्वय करता है, वह ऊर्ध्वता सामान्य रूप वचन परमार्थ से सत्य है। यही सर्वज्ञवाणी है। इसके अतिरिक्त वाणी श्रद्धान योग्य नहीं है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न द्रव्यों में अवस्थित सामान्य अर्थात् तिर्यक् सामान्य का समन्वय करने वाले वचन प्रतीत्यवचन हैं।

---

1. ब' समणेइ।
2. स' णिस्सियं जम्मं।

दव्वं जह परिणयं तहेव अत्थि त्ति तम्मि समयम्मि।
विगयभविस्सेहि उ पज्जवेहिं[1] भयणा विभयणा वा ॥4॥

द्रव्यं यथा परिणतं तथैवास्तीति तस्मिन्समये।
विगतभविष्यद्भिस्तु पर्यायैर्भजना विभजना वा ॥4॥

शब्दार्थ—जह-जिस प्रकार; दव्वं-द्रव्य; परिणयं- परिणत (हुआ); तम्मि-उसमें। समयम्मि-समय में; तहेव-उसी प्रकार ही; अत्थि-है; त्ति-यह (इस प्रकार); विगयभविस्सेहि-अतीत (और) भविष्यत् (काल की); उ-तो; पज्जवेहिं-पर्यायों से (के साथ); भयणा-अभेद; वा-और; विभयणा-भेद (भी) है।

सामान्य के दोनों भेदों का समन्वय :

भावार्थ—जिस समय जो द्रव्य जिस पर्याय रूप परिणम गया है, वह द्रव्य उस समय उसी रूप में है। जो द्रव्य अपनी भूतकालिक, भविष्यत्कालीन तथा वर्तमान की पर्यायों को अपने में समेटे रहता है, जिनके साथ उसका अभेद है और भेद भी है। इस प्रकार काल-क्रम से होने वाली पर्यायों में तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में समन्वय करने वाला वचन युक्तियुक्त है, और यही प्रतीत्यवचन है।

परपज्जवेहिं असरिसगमेहिं णियमेण णिच्चमवि णत्थि।
सरिसेहिं पि वंजणओ[2] पि अत्थि ण पुणत्थपज्जाए[3] ॥5॥

परपर्यायैरसदृशगमैर्नियमेन नित्यमपि नास्ति।
सदृशैरपि व्यंजनतोऽप्यस्ति न पुनरर्थपर्यायेन ॥5॥

शब्दार्थ—असरिसगमेहिं-असदृशों से; परपज्जवेहिं-पर पर्यायों (की अपेक्षा) से; णियमेण-नियम से; णिच्चमवि-नित्य भी; णत्थि-नहीं है; सरिसेहि-सदृशों से; पि-भी; वंजणओ-व्यंजन (पर्यायों की अपेक्षा) से; अत्थि-है; ण-नहीं (है); पुण-फिर; अत्थपज्जाए-अर्थपर्याय (की अपेक्षा) से।

वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों :

भावार्थ—जब 'वस्तु है' यह कथन किया जाता है, तो इसका तात्पर्य है कि वह अपनी वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से है; किन्तु पर पर्याय की अपेक्षा से नहीं है। यहाँ

---

1. स[3] पज्जयेहिं।
2. ब[1] सरिसेहि वि वंजणओ।
3. ब[1] अत्थी णं पुण ए पज्जाए।

'असदृशपर्याय' शब्द से तात्पर्य 'पर-पर्याय' से है। परन्तु जिन पर्यायों में 'यह वह है' ऐसी प्रतीति होती है अथवा मूल द्रव्य का अन्वय जिनमें रहता है, उनका ग्रहण 'सदृश-पर्याय' शब्द से किया जाता है। इस प्रकार स्व-पर्याय की अपेक्षा वस्तु है-यह प्रथम भंग (कथन-प्रकार) है तथा पर-पर्याय की अपेक्षा वस्तु नहीं है—यह द्वितीय भंग है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि वस्तु स्वद्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्वभाव की अपेक्षा से है, किन्तु पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-समय और पर-भाव की अपेक्षा से नहीं है। स्वपर्याय दो प्रकार की हैं—व्यंजन पर्याय और अर्थ पर्याय। 'घड़ा है'—यह व्यंजनपर्याय की अपेक्षा कहा जाता है। सभी एक जैसे आकार के घड़े इस भंग में आ जाते हैं। किन्तु विशेष रूप से आकृति, रंग आदि का कथन अर्थ पर्याय की अपेक्षा से किया जाता है।

पच्चुप्पण्णम्मि वि पज्जयम्मि भयणागइं पडइ दव्वं।
जं एगगुणाईया अणंतकप्पा गुणविसेसा[1] ॥6॥

प्रत्युत्पन्नेऽपि पर्याये भजनागतिं पतति (प्राप्नोति) द्रव्यम्।
यदेकगुणादयोऽनन्तकल्पा गुणविशेषाः ॥6॥

शब्दार्थ—पच्चुप्पण्णम्मि-वर्तमान काल में; वि-भी; पज्जयम्मि-पर्याय में; दव्वं-द्रव्य; भयणागइं-भजनागति (उभय-रूप-कथंचित् सत् और कथंचित् असत्) को; पडइ-पड़ता (है, धारण करता है); जं-जिस; एगगुणाईया-एक गुण को आदि लेकर; गुणविसेसा-(उस) गुण (के) विशेष; अणंतकप्पा-अनन्त प्रकार (होते हैं)।

वर्तमान में भी वस्तु सत्-असत् :

भावार्थ—मिट्टी की वर्तमान पर्याय घड़ा है। इसके घड़ा बनने के पहले और भी घड़े बन चुके होंगे। उन सभी की बनावट में और रंग आदि में विशेष रूप से कुछ भिन्नता अवश्य लक्षित होती है। इसी प्रकार वर्तमान काल में भी निर्मित घड़ों में गुण आदि की दृष्टि से उनमें परस्पर भिन्नता प्रकट होती है। इस भिन्नता का कथन अर्थपर्याय की अपेक्षा से किया जाता है। वस्तु के एक वर्ण (रंग) को लेकर उसके संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त गुण या भाग हीनाधिक रूप में होने के कारण प्रतिपादन किया जाता है। अतएव वर्तमान में जो पर्यायें विद्यमान हैं, वे कथंचित् सत् रूप को तथा कथंचित् असत् रूप को धारण करती हैं। इस प्रकार द्रव्य कथंचित् सत् तथा कथंचित् असत् उभयरूपता का स्पर्श करने वाला कहा गया है।

कोवं उप्पायंतो पुरिसो जीवस्स कारओ होइ।
तत्तो विभइयव्वो[2] परम्मि सयमेव भइयव्वो ॥7॥

---

1. अ° गुणविसेसा।
2. ब° तत्तो विसए अव्वो। स° तत्तो विभएयव्वो।

कोपमुत्पादयन् पुरुषो जीवस्य कारको भवति।
ततो विभाजयितव्यः परस्मिन् स्वयमेव भाजितव्यः ॥7॥

शब्दार्थ—कोवं-क्रोध को; उप्पायंतो-उत्पन्न करता हुआ, पुरिसो-पुरुष; जीवस्स-जीव का; कारओ-कारक; होइ-होता (है); तत्तो-इससे (वह); विभइयव्वो-भेद योग्य (है और); परंमि-पर (भव) में; सयमेव-स्वयं ही (होने से); भइयव्वो-अभेद योग्य (है)।

एक ही पुरुष में भेदाभेद :

भावार्थ—वर्तमान अवस्था को उत्पन्न करने वाला पुरुष जीव का कारक है। अपने आप में वह क्रोध को उत्पन्न करता है। इसलिए पहले के जीव से उसमें किसी अपेक्षा से भिन्नता है। वास्तव में जीव स्वयं पर्याय रूप परिणमन करता है। इसलिए संसारी जीव अपनी भविष्यत् काल की पर्याय का निर्माता स्वयं है। अतएव पूर्व पर्याय का जीव कारण है और उत्तरवर्ती पर्याय को प्राप्त जीव स्वयं कार्य है। वस्तुतः पूर्व पर्याय में रहने वाला जीव ही उत्तरवर्ती पर्याय वाला हुआ है। इस दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। इस प्रकार एक ही वस्तु में भेद-अभेद की सिद्धि कही गई है।

रूवरसगंधफासा असमाणग्गहणलक्खणा जम्हा।
तम्हा दव्वाणुगया गुण त्ति ते केइ इच्छंति ॥8॥

रूपरसगन्धस्पर्शा असमानग्रहणलक्षणा यस्मात्।
तस्माद् द्रव्यानुगता गुणा इति ते केचिदिच्छन्ति ॥8॥

शब्दार्थ—जम्हा-जिस कारण; रूवरसगंधफासा-रूप, रस, गन्ध (और) स्पर्श (ये); असमाणग्गहण-असमान ग्रहण (भिन्न प्रमाण से ग्रहण होते हैं) और; लक्खणा-(भिन्न) लक्षण (वाले हैं); तम्हा-इस कारण; ते-वे; दव्वाणुगया-द्रव्य (से) अनुगत (द्रव्य के आश्रित); गुण-गुण (हैं); त्ति-यह; केइ-कई (प्रवादी जन); इच्छंति-मानते (हैं)।

क्या द्रव्य और गुण में भेद है ? :

भावार्थ—कई वैशेषिक आदि प्रवादीजनों का यह कथन है कि गुण गुणी से और गुणी गुण से सर्वथा भिन्न है। आत्मा ज्ञानवान् (गुणी) है—यह व्यवहार समवाय सम्बन्ध से होता है। लोक के पदार्थों का ज्ञान चक्षु इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से स्पर्शन इन्द्रियजन्य होता है। जो वस्तु पहले देखी थी, उसको ही लेकर आ रहा हूँ—यह ज्ञान स्मरण के सहकारी प्रत्यभिज्ञान से होता है। इसलिए द्रव्य को ग्रहण करने वाला प्रमाण अन्य है और रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श को ग्रहण करने वाला प्रमाण अन्य है। इस प्रकार द्रव्य और गुणों को ग्रहण करने वाला प्रमाण अन्य होने से द्रव्य में तथा गुणों में

भिन्नता निश्चित होती है। उनके अनुसार द्रव्य का लक्षण है: 'क्रियावत्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यम्'। (क्रियावान् तथा गुणवान् समवायी कारण को द्रव्य कहते हैं) और 'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः'—यह गुण का लक्षण है। इन लक्षणों की भिन्नता से भी गुण-गुणी एवं द्रव्य में भिन्नता है। यहाँ से भेदैकान्तवादी मान्यता का निरूपण किया जाता है।

दूरे ता अण्णत्तं गुणसद्दे चेव ताव पारिच्छं[1]।
किं पज्जवाहिओ[2] होज्ज पज्जवे चेव गुणसण्णा ॥9॥

दूरे तावदन्यत्वं गुणशब्दे चैव तावत्परीक्ष्यम्।
किं पर्यवाधिको भवतु पर्यवे चैव गुणसंज्ञा ॥9॥

शब्दार्थ—दूरे-दूर रहे; ता-तो, अण्णत्तं-अन्यत्व (भिन्नपना); गुणसद्दे-गुण शब्द (के विषय) में; चेव-ही; ताव-तब तक; पारिच्छं-विचार करना चाहिए; किं-क्या (गुण); पज्जवाहिओ-पर्याय (से) अधिक (भिन्न है या), पज्जवे-पर्याय में; चेव-ही; गुणसण्णा-गुणसंज्ञा; होज्ज-होवे।

गुण पर्याय-संज्ञा है क्या ? :

भावार्थ—द्रव्य और गुण का भेद तो दूर की बात है। यह जो आप कहते हैं कि 'गुण और गुणी में सर्वथा भेद है'—इसमें सर्वप्रथम 'गुण' शब्द के सम्बन्ध में ही विचार कर लेना चाहिए। यह गुण पर्याय से भिन्न है या पर्याय ही गुण है ? जिसे जन सामान्य 'गुण' कहते हैं, वह पर्याय से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त है या पर्याय के अर्थ में प्रयुक्त है ? यहाँ 'गुण' शब्द से अभिप्राय सहभावी पर्याय से है। आत्मा के ज्ञान, आनन्द आदिक गुण सहभावी होने से उनको सहभावी कहा जाता है। अतः 'गुण' शब्द सहभावी पर्याय का ग्राहक है। गुण सहभावी विशेष है। कहा भी है—"सहभाविनो गुणः क्रमभाविनः पर्यायः।" तथा—

गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये ॥2॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 5,38,2

दो उण[3] णया भगवया दव्वट्ठियपज्जवट्ठिया णियया।
एत्तो य गुणविसेसे[4] गुणट्ठियणयो वि जुज्जंतो ॥10॥

---

1. ब' चेव भाव पारिच्छं। द' चेव ताव पारिच्छं।
2. ब' पज्जवाहि (इ) ओ।
3. ब' पुण।
4. ब गुणविसेसो।

दो पुनर्नयौ भगवता द्रव्यार्थिकपर्यवार्थिकौ नियतौ।
एतस्माच्च गुणविशेषे गुणार्थिकनयोऽपि युज्यमानः ॥10॥

शब्दार्थ—भगवया-भगवान् (के द्वारा); उण-फिर; दव्वट्ठियपज्जवट्ठिया-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक (ऐसे); दो णया—दो नय; णियया-नियत किए (गए हैं); एत्तो य-इससे (भिन्न); गुणविसेसे-गुण विशेष होने पर; गुणट्ठियो—गुणार्थिकनय; वि-भी; जुज्जंतो-प्रयुक्त होता (है)।

कोई गुणार्थिक नय नहीं :

भावार्थ—अर्हन्त भगवान् ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो नयों की ही प्ररूपणा की है। यदि पर्याय से भिन्न कोई गुण होता, तो गुणार्थिक नय के नाम से उसका भी कथन होता। किन्तु गुणार्थिक नाम के कारण से कोई नय नहीं है। 'गुण' शब्द का अर्थ पर्याय से भिन्न नहीं है। इसलिए गुणार्थिक नय की प्ररूपणा की आवश्यकता नहीं रही। यदि गुण द्रव्य से भिन्न होते, तो उनकी प्ररूपणा के लिए गुणार्थिक नय का भी अभिधान होता। किन्तु द्रव्य से गुण त्रिकाल में भी भिन्न नहीं हो सकते। एक समय में भी गुण द्रव्य में सतत साथ रहते हैं। इसी प्रकार पर्याय सामान्य भी द्रव्य के साथ रहती है। अतएव गुण और पर्याय में भिन्नता नहीं है।

जं च पुण अरहया[1] तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं।
पज्जवसण्णा णियमा[2] वागरिया तेण पज्जाया ॥11॥

यच्च पुनरर्हता तेषु तेषु सूत्रेषु गौतमादीनाम् ।
पर्यवसंज्ञा नियमाद् व्याकृता तेन पर्यायाः ॥11॥

शब्दार्थ—जं च पुण-और फिर; अरहया-अर्हन्त (प्रभु) ने; तेसु तेसु-उन-उनमें; सुत्तेसु-सूत्रों में; गोयमाईणं-गौतम (गणधर) आदि के लिए; पज्जवसण्णा-पर्याय संज्ञा; णियमा-नियम से (कही है); तेण-उन्होंने (उनके द्वारा); पज्जाया-पर्यायें (गुण हैं, यह); वागरिया-व्याख्यान किया (गया) है।

और फिर—

भावार्थ—अर्हन्त प्रभु ने ही उन-उन सूत्रों में गौतम गणधर आदि सबके लिए पर्याय संज्ञा नियत की है, और उसी का विशेष रूप से व्याख्यान किया है। यह उनकी ही प्ररूपणा है कि गुण पर्याय से भिन्न स्वतन्त्र नहीं है। अतः गुणों को गुणी से भिन्न मानना उचित नहीं है। क्योंकि पर्याय का क्षेत्र विस्तृत है और गुण का क्षेत्र संकुचित है। 'पर्याय' शब्द

---

1. अ अरिहया।
2. ब निअया।

के प्रयोग से सहभावी गुण और क्रमभावी पर्याय दोनों का ग्रहण हो जाता है। किन्तु 'गुण' शब्द का प्रयोग करने से केवल सहभावी गुणों का ही ग्रहण होता है।

परिगमणं पज्जायो अणेगकरण गुण त्ति तुल्लत्था[1]।
तह वि ण गुण[2] त्ति भण्णइ पज्जवणयदेसणा[3] जम्हा ॥12॥

परिगमनं पर्यायोऽनेककरणं गुण इति तुल्यार्थः।
तथापि न गुण इति भण्यते पर्यवनयदेशना यस्मात् ॥12॥

शब्दार्थ—परिगमणं-परिगमन (परिणमन, पलटना); पज्जायो-पर्याय (है); अणेगकरणं-अनेक (रूप) करना; गुण-गुण (है); त्ति-यह; तुल्लत्था-तुल्य अर्थ (वाले हैं दोनों); तह वि-तथापि (तो भी); ण गुण-नहीं (है) गुण (यह कथन जो कि); त्ति-ऐसा; भण्णइ-कहा जाता (है); जम्हा-जिससे (क्योंकि); पज्जवणयदेसणा-पर्यायनय (की) देशना (है)।

परिणमनःपर्याय :

भावार्थ—वस्तु के परिणमन को पर्याय कहते हैं। इसी प्रकार वस्तु के अनेक रूप करने को गुण कहा जाता है। ये दोनों ही इस तरह समान अर्थ वाले हैं। फिर भी, पर्याय को गुण नहीं कहते हैं। क्योंकि पर्याय और गुण का यह कथन पर्यायार्थिक नय की देशना है; द्रव्यार्थिक नय का उपदेश नहीं है। यद्यपि पर्यायों का परिणमन सहभावी और क्रमभावी दोनों रूपों में होता है। द्रव्य की अपनी-अपनी अवस्था में जो क्रमशः परिणमन होता है, उसे क्रमभावी पर्याय कहते हैं और अनेक रूप में वस्तु का जो ज्ञान होता है, वह सहभावी पर्याय (गुण) है। इस प्रकार पर्याय और गुण की समानार्थक प्रतीति होने पर भी पर्याय को गुण नहीं कहा जाता है। क्योंकि अर्हन्त भगवान् का ऐसा उपदेश नहीं है कि यह द्रव्यार्थिक नय का विषय हो। यथार्थ में गुण के विकार को पर्याय कहा जाता है। जो पलटता है, वह गुण है और जो प्रकट होती है, वह अवस्था पर्याय है।

जंपंति अत्थि समये एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो।
रूवाई परिणामो भण्णइ तम्हा गुणविसेसो[4] ॥13॥

जल्पन्त्यस्ति समय एकगुणो दशगुणोऽनन्तगुणः।
रूपादि-परिणामो भण्यते तस्माद् गुणविशेषः ॥13॥

शब्दार्थ—एगगुणो—एक गुण; दसगुणो—दश गुण (और); अणंतगुणो—अनन्त गुण

1. ब° गुणो त्ति एगत्था।
2. ब° गुणो।
3. ब° देसणं।
4. ब° गुणाविसेसे।

(वाला); रूवाई–रूप आदि; परिणामो–परिणाम; अत्थि-है; तम्हा–इसलिए; गुणविसेसो–गुण विशेष (रूपादि हैं, जिसे विषय करने वाला गुणार्थिक नय है–ऐसा कोई); भण्णइ–कहता है (यह); समये–आगम में; जंपंति–कहा जाता है।

और फिर–

भावार्थ–गुणार्थिक नय स्वतन्त्र इसलिए नहीं माना गया है कि उसका अन्तर्भाव पर्यायार्थिक नय में हो जाता है। सिद्धान्त ग्रन्थों में रूप, रस, गन्ध आदि परिणाम एक गुण, दसगुण तथा अनन्त गुण वाले कहे गए हैं। अतएव रूप, रस, गन्ध आदि गुण विशेष हैं। इनको विषय करने वाला गुणार्थिक नय है-ऐसा कोई कहते हैं। परन्तु रूप, रस, गन्ध आदि विशेष हैं और जो विशेष हैं वह पर्याय रूप है। द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को गुण कहते हैं। और द्रव्य का विकार पर्याय है। कहा भी है–

गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो।
तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवे णिच्चं ॥ --सर्वार्थसिद्धि 5, 38

गुणसद्दमंतरेणावि तं तु पज्जवविसेससंखाणं।
सिज्झइ णवरं संखाणसत्थधम्मो तइगुणो त्ति ॥14॥

गुणशब्दमन्तरेणापि तत्तु पर्यवविशेषसंख्यानम्।
सिद्ध्यति नवरं संख्यानशास्त्रधर्मस्तावद्गुण इति ॥14॥

शब्दार्थ–गुणसद्दमंतरेणावि–गुण शब्द (के) बिना भी; तं तु–वह तो (जो); पज्जवविसेससंखाणं–पर्याय (गत) विशेष संख्या को (कहने वाले); सिज्झइ–सिद्ध होते (हैं); णवरं–केवल (वह); तइगुणो–उतना गुण (है); त्ति–यह; संखाणसत्थधम्मो–गणित शास्त्र (का) धर्म (है)।

संख्या का निर्वचन गुणार्थिक नय से नहीं :

भावार्थ–'गुण' शब्द के बिना भी जो रूप, रस, गन्ध आदि का बोध कराते हैं तथा एक गुने, दस गुने काल आदि वाले वचन हैं, वे पर्यायगत विशेष संख्या के कहने वाले सिद्ध होते हैं। उनसे गुणों की तथा गुणार्थिक नय की सिद्धि नहीं होती। फिर, यह गुण इतना है, वह गुण इतना है–यह बतलाना गणितशास्त्र का विषय है। गुणार्थिक नय इस प्रकार की संख्या नहीं बतला सकता है।

यद्यपि सूत्रों में वर्णगुण, स्पर्शगुण आदि शब्दों में 'गुण' शब्द का प्रयोग न होकर वर्णपर्याय, स्पर्शपर्याय जैसे शब्दों में 'पर्याय' शब्द का प्रयोग मिलता है–इससे भी यह स्पष्ट होता है कि गुण पर्याय रूप है। फिर, एक गुण कृष्ण, दशगुण कृष्ण आदि शब्दों में जो 'गुण' शब्द प्रयुक्त देखा जाता है, वह वर्ण आदि पर्यायों के परस्पर तर-तमभाव (परिमाण) को प्रकट करता है; न कि पर्याय से अपने को भिन्न प्रकट करता है।

जह दससु दसगुणम्मि य एगम्मि दसत्तणं समं चेव।
अहियम्मि वि[1] गुणसद्दे तहेय[2] एयं पि[3] दट्ठव्वं ।। 15।।

तथा दशसु दशगुणे चैकस्मिन् दशत्वं समं चैव।
अधिकेऽपि गुणशब्दे तथैवैतदपि द्रष्टव्यम् ।। 15।।

शब्दार्थ—जह—जिस प्रकार; गुणसद्दे—गुण शब्द में (के); अहियम्मि—अधिक (होने) पर; वि—भी; दससु—दसों (दश वस्तुओं) में; दसगुणम्मि—दसगुनी में (वस्तुओं में); य—और; एगम्मि—एक (वस्तु) में; दसत्तणं—दशपना; समं—समान; चेव—ही (होता है); तहेय—उसी प्रकार; एयं—यह; पि—भी; दट्ठव्वं—समझना चाहिए।

'गुण' परस्पर हीनाधिकता का बोधक :

भावार्थ—एक गुणी, दशगुणी कृष्णपर्याय आदि शब्दों में 'गुण' शब्द का प्रयोग वस्तुओं के परस्पर वर्ण, रस आदि की न्यूनता या अधिकता का बोधक है। जिस प्रकार दशगुनी दश वस्तुओं में तथा दशगुनी एक वस्तु में दशपना समान होता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। इस प्रकार 'गुण' शब्द हीनाधिक परिमाण का बोध कराता है।
'गुण' का अर्थ है—गुना; जैसे कि दुगना, तिगुना चौगुना आदि। इसी प्रकार एक गुना, दुगना कम आदि। इन सबमें 'गुण' शब्द कम-अधिक परिमाण का वाचक है।

एगंतपक्खवाओ[4] जो पुण[5] दव्वगुणजाइभेयम्मि[6]।
अह पुव्वपडिक्कुट्ठो[7] उयाहरणमेत्तमेयं तु[8] ॥16॥

एकान्तपक्षवादो यः पुनः द्रव्यगुणजातिभेदे।
अथ पूर्वप्रतिक्रुष्ट उदाहरणमात्रमेतत्तु ॥16॥

शब्दार्थ—अह—और;दव्वगुणजाइभेयम्मि—द्रव्य (तथा) गुण (की) जाति (गत) भेद में; जो—जो; पुण—फिर; एगंतपक्खवाओ—एकान्त (रूप से) पक्षपात (है उसे);

---

1. अ 'वि' के स्थान पर 'अ'।
2. ब° तहेय।
3. द° वि।
4. अ° एयंतपक्खवाओ।
5. अ° उण।
6. ब° दव्वगुणजाइमयणंमि।
7. ब° पुव्वं पडिकुट्ठो।
8. ब° ति।

पुव्वपडिक्कुट्ठो—पहले (ही) निषिद्ध (किया जा चुका है); एयं तु—यह तो; उयाहरणमेत्तं—उदाहरण मात्र (है)।

अभेदवादी का कथन :

भावार्थ—द्रव्य तथा पर्याय में, गुण—गुणी आदि में सर्वथा भेद मानने वाले प्रवादियों की मान्यता का तद्ग्राहक प्रमाण के अभाव के कारण पहले ही खण्डन किया जा चुका है। अतः एकान्त मान्यता निर्दोष नहीं है। अब अभेदवादी अपनी एकान्त मान्यता की स्थापना करता हुआ दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट करता है कि गुण—गुणी में अभेद मान लेना चाहिए। अभेदवादी केवल एक सामान्य तत्त्व को ही स्वीकार करता है; विशेष को नहीं। इसी मान्यता की स्थापना करने के लिए कहा जा रहा है।

पिउपुत्तणत्तुभव्वयभाऊणं[1] एगपुरिससंबंधो।
ण य सो एगस्स पिय[2] त्ति सेसयाणं पिया होइ ॥17॥

पितृ-पुत्र-नप्तृ-भागिनेय-भ्रातृणामेकपुरुषसम्बन्धः।
न च स एकस्य पितेति शेषाणां पिता भवति ॥17॥

शब्दार्थ—पिउ—पिता; पुत्त—पुत्र; णत्तु—नाती, भव्वय—भानजा; भाऊणं—भाई का; एगपुरिससंबंधो—एक (ही) पुरुष (के साथ) सम्बन्ध (भिन्न—भिन्न हैं); सो—वह; एगस्स—एक का; पिय त्ति—पिता (है, इससे); सेसयाणं—शेष जनों का; पिया—पिता; ण य—नहीं; होइ—होता है।

दृष्टान्त है—

भावार्थ—जैसे एक ही पुरुष में पितृत्व, भागिनेयत्व और भ्रातृत्व धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षा से घटित होते हैं, किन्तु वे सभी धर्म परस्पर भिन्न हैं तथा व्यक्ति में सम्बन्ध विशेष के कारण मान लिए जाते हैं; वास्तविक नहीं हैं। यदि इन धर्मों से व्यक्ति को सर्वथा भिन्न माना जाए, तो अनेकता का प्रसंग आता है। इसी प्रकार यदि अभेद माना जाए, तो जैसे वह एक का पिता है, वैसे सबका पिता नहीं होगा अथवा वह किसी एक का भानजा है, तो सबका भानजा होने का उसे प्रसंग प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि ये सभी धर्म भिन्न-भिन्न सम्बन्धों के कारण कल्पित किए जाते हैं। इसलिए इन सम्बन्धों की अपेक्षा व्यक्ति में एकत्व होने पर भी उसे भिन्न मान लिया जाता है।

---

1. ब° पिअपुत्तमित्तभज्जयभाऊणं।
2. ब° पिउ त्ति।

जह संबंधविसिट्ठो सो पुरिसो पुरिसभावणिरइसओ।
तह दव्वमिंदियगयं रूवाइविसेसणं लहइ ॥18॥

यथा सम्बन्धविशिष्टः स पुरुषः पुरुषभावनिरतिशयः।
तथा द्रव्यमिन्द्रियगतं रूपादिविशेषणं लभते ॥18॥

शब्दार्थ—जह—जिस प्रकार; संबंधविसिट्ठो—सम्बन्ध विशिष्ट (सम्बन्ध विशेष के होने पर); सो—वह; पुरिसो—पुरुष; पुरिसभावणिरइसओ—पुरुष पर्याय (की) अधिकता (वाला है); तह—वैसे ही; इंदियगयं—इन्द्रियगत (सम्बद्ध); दव्वं—द्रव्य; रूवाइविसेसणं—रूप (रस) आदि विशेषण (वाला); लहइ— प्राप्त हो जाता है।

अभेदवादी का विशेष कथन :

भावार्थ—सम्बन्धों की अपेक्षा एक ही व्यक्ति में एकत्व होने पर भी वह पिता, पुत्र, भाई आदि भिन्न-भिन्न मान लिया जाता है। यही कारण है कि लोक में पिता, पुत्र आदि रूपों में व्यवहार होता है। इसे माने बिना व्यवहार नहीं बन सकता है। इसी प्रकार एक ही द्रव्य भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के सम्बन्ध से रूप, रस आदि विशेषण वाला होता है। इसीलिए रूप, रस आदि रूपों में उसका व्यवहार किया जाता है। परन्तु वस्तुतः सामान्य रूप से वह एक है। इस प्रकार अभेद पक्षवादी सामान्य को स्वीकार करता है। उसके अनुसार एक द्रव्य ही वास्तविक तत्त्व है; पर्याय तो औपाधिक है।

होज्जाहि दुगुणमहुरं अणंतगुणकालयं तु[1] जं दव्वं।
ण उ[2] डहरओ महल्लो वा होइ संबंधओ पुरिसो ॥19॥

भवेद् द्विगुणमधुरमनन्तगुणकालकं तु यद्द्रव्यम्।
न त्वल्पको महान् वा भवति सम्बन्धितः पुरुषः ॥19॥

शब्दार्थ—जं—जो (कोई); तु—तो; दव्वं—द्रव्य; दुगुणमहुर—दुगुना मधुर (हो); अणंतगुणकालयं—अनन्त गुना काल का; होज्जाहि—होवे (तथा); पुरिसो—पुरुष; डहरओ—छोटा; महल्लो—बड़ा; वा—अथवा (हो, तो); संबंधओ—सम्बन्ध से (इन्द्रियादिक के सम्बन्ध से); ण उ—नहीं; होइ—होता है (किन्तु विशेष धर्म से होता है)।

सर्वथा अभेद-पक्ष निर्दोष नहीं :

भावार्थ—अभेदवादी केवल एक सामान्य तत्त्व को ही मानते हैं। विशेष को तो वे

---

1. ब' च।
2. ब' हु।

औपाधिक तथा कल्पित कहते हैं। किन्तु अनेकान्तवादी का कथन है—जब रसना इन्द्रिय का सम्बन्ध दो मधुर रसों के साथ होता है, तब ऐसी प्रतीति होती है कि यह रस उस रस से दुगुना मीठा है। इसी प्रकार पहला वाला रस दूसरे रस की अपेक्षा दुगुना कम मधुर है। इस तरह की प्रतीति रसना इन्द्रिय से नहीं हो सकती। क्योंकि केवल रसना इन्द्रिय इस प्रकार की विषमता तथा विशिष्टता को जानने में समर्थ नहीं है। रस के साथ तो उसका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए कि विशिष्टता, भिन्नता, विषमता आदि का ज्ञान विशेष धर्म से होता है; इन्द्रियादिक तथा काल के सम्बन्ध से नहीं।

भण्णइ संबंधवसा जह[1] संबंधित्तणं अणुमयं ते।
णणु संबंधविसेसं[2] संबंधिविसेसणं सिद्धं ॥20॥

भण्यते सम्बन्धवशाद् यथा सम्बन्धित्वमनुमतं तव।
ननु सम्बन्धविशेषं सम्बन्धिविशेषणं सिद्धम् ॥20॥

शब्दार्थ—जह—जिस प्रकार; संबंधवसा—सम्बन्ध (के) वश से; ते—तुम्हें; संबंधित्तणं—सम्बन्धीपन; अणुमयं—मान्य (है); णणु—निश्चय (से); (वैसे ही); संबंधविसेसं—सम्बन्ध विशेष (में, वस्तु में); संबंधिविसेसणं—सम्बन्ध—विशेषता (भी); सिद्धं—सिद्ध (हो जाती है)।

पुनः अभेदवादी का कथन :

भावार्थ—पुनः अभेदवादी कहता है कि जिस प्रकार सामान्य सम्बन्ध के वश से वस्तु में सामान्य रूप से सम्बन्धत्व घटित होता है, वैसे ही सम्बन्ध विशेष में वस्तु में सम्बन्ध की विशिष्टता भी सिद्ध हो जाती है। विभिन्न सम्बन्धों के कारण वस्तु में सम्बन्धीपन भी पाया जाता है—ऐसा हम कह सकते हैं। सम्बन्ध के कारण ही व्यक्ति विशेष को सम्बन्धी कहा जाता है। सम्बन्धी में सम्बन्धपना अवश्य होता है। सम्बन्धी होने से ही व्यवहार चलता है। यदि कोई सम्बन्ध न हो तो सम्बन्धीपने का व्यवहार नहीं होता।

जुज्जइ संबंधवसा संबंधिविसेसणं ण उण[3] एयं।
णयणाइविसेसगओ[4] रूवाइविसेसपरिणामो ॥21॥

---

1. ब[1] जइ।
2. ब[2] तत्संबंधविशेषं।
3. ब[1] पुण।
4. ब[1] णयणाइविसेसगओ।

युज्यते [illegible] न पुनरेतत् ।
नयनादिविशेषगतो रूपादिविशेषपरिणामः ॥21॥

शब्दार्थ—संबंधवसा—सम्बन्ध—वश से; संबंधिविसेसणं—सम्बन्ध विशेष (वाली वस्तु); जुज्जइ—प्रयुक्त होती है; ण—नहीं; उण—फिर; एयं—यह (ये); णयणाइविसेसगओ—नेत्र आदि (के) विशेष सम्बन्ध; (के कारण) रूवाइविसेसपरिणामो—रूप आदि विशेष परिणाम (घटित होते है)।

सिद्धान्ती को तर्क :

भावार्थ—अभेदवादी के इस कथन से 'सम्बन्धों के वश से वस्तु में अनेक प्रकार का सम्बन्धीपन सिद्ध होता है'—हमारी असहमति नहीं है; जैसे कि—एक ही पुरुष दण्ड के सम्बन्ध से दण्डी कहा जाता है और कम्बल के सम्बन्ध से उसे ही कम्बली कहा जाता है। किन्तु हमारा यह प्रश्न आप से बराबर बना हुआ है कि भिन्न-भिन्न कालेपन में वैषम्य प्रतीत होता है, वह चक्षु इन्द्रिय से किस प्रकार ग्राह्य हो सकता है ? क्योंकि चक्षु इन्द्रिय का सम्बन्ध केवल कृष्ण वर्ण से है, उसकी विषमता से नहीं है। विषमता का सम्बन्ध तो विशेष धर्म से है जो वस्तु में स्वतः सिद्ध है, निमित्त कारण उसके व्यंजक मात्र होते हैं।

भण्णइ विसमपरिणयं कह एयं होहिइ त्ति उवणीयं।
तं होइ परणिमित्तं ण व त्ति ऍत्थत्थि[1] एगंतो ॥22॥

भण्यते विषमपरिणतं कथमेतद् भविष्यतीत्युपनीतम्।
तद् भवति परनिमित्तं न वेत्यत्रास्त्येकान्तः ॥22॥

शब्दार्थ—एयं—यह; विसमपरिणयं—विषम परिणाम रूप; कह—किस प्रकार; होहिइ—होगा; त्ति—यह (जो); उवणीयं—घटित (होता है); तं—वह; परणिमित्तं—पर—निमित्त (की अपेक्षा से घटित); होइ—होता है; त्ति—यह (है); ण व—अथवा नहीं (भी है, क्योंकि); एगंतो—एकान्त; ऍत्थत्थि—यहाँ (इस विषय में) है (नहीं)।

प्रश्नोत्तर :

भावार्थ—जिस प्रकार एक वस्तु में शीत तथा उष्ण परस्पर विरुद्ध धर्म होने से एक साथ अस्तित्व में नहीं रहते, उसी प्रकार एक ही तत्त्व में परस्पर विरोधी विषम परिणाम रूप अनेक धर्मों का युगपत् अवस्थान कैसे घटित हो सकता है ? इस शंका का

---

1. ब" नत्थत्थि।

समाधान करते हुए कहते हैं—एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्म रूप विषम परिणाम पर-निमित्त की अपेक्षा से लक्षित होते हैं। इस कथन को एकान्त रूप से नहीं मान लेना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार के परिणामों में स्वयं वस्तु अन्तरंग कारण है तथा अन्य बाह्य सामग्री बहिरंग कारण है। इस प्रकार सम परिणमन स्वनिमित्ताधीन है तथा विषम परिणमन कथंचित् परनिमित्ताधीन तथा कथंचित् स्वनिमित्ताधीन है।

दव्वस्स ठिई जम्मविगमा[1] य गुणलक्खणं ति वत्तव्वं[2]।
एवं[3] सइ केवलिणो जुज्जइ तं णो उ[4] दवियस्स ॥23॥

द्रव्यस्य स्थितिर्जन्मविगमौ च गुणलक्षणमिति वक्तव्यम्।
एवं सति केवलिनो युज्यते तद् न तु द्रव्यस्य ॥23॥

शब्दार्थ—दव्वस्स—द्रव्य का (लक्षण); ठिई—स्थिति (ध्रौव्य) (द्रव्य का लक्षण ध्रौव्य है); जम्मविगमा—उत्पत्ति (और) विनाश; य—और; गुणलक्खणं—गुण (पर्याय का) लक्षण (है); ति—यह (ऐसा); वत्तव्वं—कहना चाहिए; एवं—इस प्रकार; सइ—होने पर (मान लेने से); तं—वह (लक्षण); केवलिणो—केवल; दवियस्स—द्रव्य का (तथा केवल गुण का); जुज्जइ—घटता है; उ—किन्तु; दवियस्स— द्रव्य का, अखण्ड वस्तु का; णो—नहीं (घटता है)।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण-विचार :

भावार्थ—द्रव्य और पर्याय में भेद मानने वाले वादी का यह कथन है कि नित्यता या ध्रौव्य द्रव्य का लक्षण है और उत्पत्ति एवं विनाश गुण अथवा पर्याय का लक्षण है। इस प्रकार से इन दोनों को विभक्त समझना चाहिए। इस विचार के विपक्ष में सिद्धान्तवादी यह कहता है कि इस तरह का विभाजन युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में यह समझाया है कि द्रव्य का लक्षण 'सत्' है। 'सत्' उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। इनमें से द्रव्य के बिना पर्याय का कोई अस्तित्व नहीं है और पर्याय के बिना द्रव्य पृथक् रूप से 'सत्' नहीं है। यदि द्रव्य को सर्वथा नित्य माना जाए, तो उसमें कूटस्थ नित्यता माननी होगी। अतः द्रव्य परिणामी नित्य सिद्ध नहीं होगा। इससे वस्तु क्रिया-शून्य होने से 'असत्' सिद्ध होगी। अतएव न तो पर्याय एकान्त रूप से अनित्य है और न द्रव्य ही नित्य है। परन्तु दोनों कथंचित् नित्यानित्यात्मक हैं। इसलिए एकान्त रूप से किसी (द्रव्य) को नित्य और किसी (पर्याय) को अनित्य मानना उचित नहीं है।

(पंचास्तिकाय, गा.10; प्रवचनसार, गा. 95-96)

---

1. ब[1] जस्स वि गमा।
2. ब[1] गुणलालणं तु वत्तव्वं।
3. ब[1] एवं।
4. ब[1] तण्णो।

दव्वत्थंतरभूया मुत्तामुत्ता य[1] ते गुणा होंज्जा[2]।
जइ मुत्ता परमाणु णत्थि अमुत्तेसु अग्गहणं[3] ॥24॥

द्रव्यार्थान्तरभूता मूर्तामूर्ताश्च ते गुणा भवेयुः।
यदि मूर्ताः परमाणवो नास्त्यमूर्तेष्वग्रहणम् ॥24॥

शब्दार्थ—दव्वत्थंतरभूया—द्रव्यान्तर (को) प्राप्त; ते—वे; गुणा—गुण; मुत्ता—मूर्त (या) अमूर्त; य—और; होंज्जा—होंगे; जइ—यदि; मुत्ता—मूर्त (हों तो कोई) परमाणु; णत्थि—नहीं है; (होगा) अमुत्तेसु—अमूर्त होने पर; अग्गहणं—ग्रहण नहीं (परमाणु होंगे)।

गुणः मूर्त, अमूर्त ?

भावार्थ—भेदवादी को समझाते हुए कहते हैं कि यदि पर्यायों को द्रव्य से भिन्न माना जाए, तो वे गुण रूप पर्यायें द्रव्य में भिन्न रह कर मूर्त होंगी या अमूर्त ? यदि आप यह कहते हैं कि द्रव्य की पर्यायें द्रव्य से सर्वथा भिन्न रहेंगी, तो ऐसी स्थिति में परमाणु का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि परमाणु इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। उनका अस्तित्व तो द्व्यणुकादि पयायों से ही जाना जाता है। जैसे ये पर्यायें अन्य द्रव्य से भिन्न हैं तथा द्रव्य के अस्तित्व की ज्ञापक नहीं हैं, उसी प्रकार परमाणु से भिन्न द्व्यणुकादि पर्यायें भी परमाणु की ज्ञापक कैसे हो सकती हैं? इसी प्रकार अन्यथानुपपत्ति रूप अनुमान से परमाणुओं का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि जो परमाणु हैं उनमें घट, पट आदि कार्य से भिन्न उपपत्ति नहीं देखी जाती है। इस अनुमान से उन दोनों में कथंचित् अभिन्नता ही सिद्ध होती है। अतएव सभी प्रकार के दोषों से बचने के लिए द्रव्य तथा पर्यायों को परस्पर कथंचित् सापेक्ष एवं अभिन्न मानना चाहिये।

सीसमईविप्फारणमेत्तत्थोयं[4] कओ समुल्लावो।
इहरा कहामुहं चेव[5] णत्थि एवं ससमयम्मि ॥25॥

शिष्यमतिविस्फारणमात्रार्थोऽयं कृतः समुल्लापः।
इतरथा कथामुखं चैव नास्त्येवं स्वसमये ॥25॥

शब्दार्थ—सीसमई—शिष्य (जनों की) बुद्धि (को); विप्फारण—विकसित करने;

---

1. ब° व।
2. ब° होज्जा।
3. ब° नत्थि अ सुत्ते सुअग्गहणं।
4. ब° वित्थारणमित्तत्थोयं।
5. द° येव।

मेत्तत्थोयं—मात्र प्रयोजन (से) यह; समुल्लावो—प्रबन्ध (कथा—वार्ता); कओ—किया गया (है); इहरा—अन्यथा; ससमयम्मि—जिन-शासन में; एवं—इस प्रकार (की); कहामुहं—कथा आरम्भ (का अवकाश); चेव—ही; णत्थि—नहीं (है)।

प्रस्तुत वार्ता का प्रयोजन :

भावार्थ—यहाँ पर गुण-गुणी के भेद तथा अभेद विषयक जो विचार-प्रस्तुत किया गया है, वह सब शिष्यों की बुद्धि को विकसित करने के उद्देश्य से ही किया गया है। वास्तव में जिनेन्द्र भगवान् के शासन में भेद या अभेद किसी एक प्रकार की कथा-वार्ता नहीं है। जैन शासन अनेकान्तात्मक है। अतः इसमें एकान्त रूप से भेदवाद तथा एकान्त रूप से अभेदवाद की स्थिति नहीं है।

णवि अत्थि अण्णवाओ[1] ण वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि।
तं चेव य मण्णंता अमण्णंता ण याणंति ।। 26।।

नाप्यस्त्यन्यवादो नाऽपि तद्वादो जिनोपदेशे।
तच्चैव यो मन्यमानाऽमन्यमाना (सन्) न जानन्ति ॥26॥

शब्दार्थ—जिणोवएसम्मि—जिन (भगवान् के) उपदेश में; ण वि—नहीं (ही); अण्णवाओ—अन्य भेदवाद (मत); अत्थि—है; ण वि—नहीं (ही); तव्वाओ—वह (अभेद) वाद; तं—उसे (भेद या अभेद को); चेव—ही; य— जो; मण्णंता—मानने वाले (हैं वे); अमण्णंता—नहीं मानते हुए; ण—नहीं (कुछ भी); याणंति—जानते हैं।

और फिर—

भावार्थ—और फिर, जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश में न तो सर्वथा भेदवाद है और न सर्वथा अभेदवाद है। जो इन दोनों में से भेदवाद या अभेदवाद को मानने वाले हैं, वे भेद या अभेद को मानते हुए भी जिनशासन को नहीं मानते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि अकेले भेदवाद का या अकेले अभेदवाद का उपदेश जिनवाणी नहीं है। जिनवाणी में दोनों का उपदेश मिलता है। एक ही या निरपेक्ष रूप से भेद या अभेद को मानना एकान्त है; किन्तु जिनवाणी अनेकान्त रूप है।

भयणा वि हु भइयव्वा जह भयणा[2] भयइ सव्वदव्वाइं।
एवं भयणा णियमो वि[3] होइ समयाविरोहेण ॥27॥

---

1. प्रकाशित 'अण्णवादो' : ब' अन्नवाओ'
2. ब' जह भयणो।
3. ब' अ।

भजनाऽपि खलु भजनीया यथा भजना भजति सर्वद्रव्यान्।
एवं भजना नियमोऽपि भवति समयाविरोधेन ॥27॥

शब्दार्थ—जह—जिस प्रकार; सव्वदव्वाइं—सब द्रव्यों को (अनेकान्त); भयणा—विकल्प से; भयइ—भजता है; वि—भजना भी (अनेकान्त भी); हु—निश्चय से; भइयव्वा—विकल्पनीय (भजनीय है); एवं—इस प्रकार; समयाविरोहेण—सिद्धान्त (से) अविरुद्ध; भयणा—विकल्प; णियमो वि—नियम से ही; होइ—होता है।

अनेकान्त की व्यापकता :

भावार्थ—जिस प्रकार अनेकान्त सापेक्ष रूप से सभी द्रव्यों का प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार अनेकान्त का भी प्रतिपादन अनेकान्त रूप होता है। अनेकान्त सम्यक् अनेकान्त तब होता है जब उसमें किसी प्रकार से सिद्धान्त का विरोध न हो। किन्तु जब परस्पर निरपेक्ष होकर अनेक धर्मों का सम्पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया जाता है, तब वह दृष्टि मिथ्या अनेकान्त रूप कही जाती है। और वही दृष्टि जब समग्र भाव से परस्पर सापेक्ष वस्तुगत अनेक धर्मों को ग्रहण करती है या उनका प्रतिपादन करती है, तब वह सम्यक् अनेकान्त कही जाती है। सिद्धान्त में वस्तुगत धर्मों के प्रतिपादन की यही रीति है कि मुख्य-गौण की विवक्षा से उनका कथन किया जाता है। वक्ता के अभिप्राय को ध्यान में रखकर अनेकान्त नय की दृष्टि से वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है। अतः जिस समय एक दृष्टि प्रमुख होती है, उस समय अन्य दृष्टि अपने आप गौण हो जाती है; किन्तु उसका सर्वथा अभाव नहीं हो जाता।

णियमेण सद्दहंतो छक्काए भावओ[1] ण सद्दहइ।
हंदी अपज्जवेसु वि सद्दहणा होइ अविभत्ता ॥28॥

नियमेन श्रद्दधानः षट्कायान् भावत न श्रद्दधाति।
खलु अपर्यवेष्वपि श्रद्धानं भवत्यविभक्तम् ॥28॥

शब्दार्थ—णियमेण—नियम से; छक्काए—छह कायों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति तथा त्रसकाय) को (की); सद्दहंतो—श्रद्धा करने वाला (पुरुष); भावओ—भाव से (मूल वस्तु की दृष्टि से); ण—नहीं; सद्दहइ—श्रद्धान करता है; हंदी—निश्चय (से); अपज्जवेसु—अपर्यायों में (द्रव्यों में); वि—भी (ही); अविभत्ता—अखण्ड; सद्दहणा—श्रद्धान; होइ—होता है।

इसी प्रकार :

भावार्थ—इसी प्रकार संसार के सभी प्राणी समान रूप से चैतन्य शक्ति वाले हैं—यह

1. ब' णियमओ।

एक दृष्टि है। किन्तु कोई जीव पृथ्वी रूप में, कोई जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति के रूप में एवं कोई जीव त्रस शरीर के रूप में पाये जाते हैं। इसलिए जीव छह काय के होते हैं--यह भी एक दृष्टि है। किसी अपेक्षा से इन सब में एकत्व है और किसी अपेक्षा से भिन्नता है। चैतन्य सामान्य की अपेक्षा सब एक हैं, किन्तु गति तथा शरीर की अपेक्षा विभिन्नता है। अतएव दोनों में से किसी एक दृष्टि का निषेध न कर अनेकान्त सापेक्षरूप से प्रतिपादन करता है।

गइपरिणयं[1] गई चेव केइ णियमेव दवियमिच्छंति।
तं पि य उड्ढगईयं तहा गई अण्णहा अगई ॥29॥

गतिपरिणतं गतिं चैव केचन नियमेन द्रव्यमिच्छन्ति।
तदपि चोर्ध्वगतिकं तथा गतिरन्यथाऽगतिः ॥29॥

शब्दार्थ--केइ--कोई (एकान्तावलम्बी); णियमेण--नियम से; गइ-परिणयं--गति (क्रिया में) परिणत; दवियं--द्रव्य को; गइं--गति (वाला); चेव--ही; इच्छंति--मानते हैं; तं पि य--और वह भी; उड्ढगईयं--ऊर्ध्व गति वाला (है); तहा--तथा (तो); गई--गति (वाला है); अण्णहा--अन्यथा; अगई--अगति (वाला) है।

कोई एकान्तावलम्बी :

भावार्थ--कोई ऐसा मानते हैं कि जो द्रव्य गति क्रिया में परिणत होता है, वही गति वाला है; जैसे--अग्नि लकड़ी, कागज, कपड़ा आदि वस्तुओं को जलाने रूप क्रिया करती है, तो उसे अग्नि कहते हैं। इसी प्रकार वस्त्रादि को उड़ाने के कारण तथा स्वयं बहने से पवन वायु कही जाती है। परन्तु अग्नि में न तो चैतन्य को और न किसी अमूर्तिक पदार्थ को जलाने की क्षमता है। इसलिए अग्नि किसी अपेक्षा से दाहक द्रव्य है और किसी अपेक्षा से दहन रूप द्रव्य नहीं भी है। परन्तु एकान्त मत वाला ऐसा मानता है कि जो द्रव्य ऊपर की ओर जाता है, वह गति वाला है; अन्य गति वाले नहीं हैं। इससे यह अभिप्राय प्रकट होता है कि शब्द (नाम) की व्युत्पत्ति से जो अर्थ निकलता हो, वह पदार्थ उसी रूप वाला है, अन्य कार्य नहीं करता है। अतएव अन्यथा कार्यशील होने से वह पदार्थ भी नहीं है। परन्तु प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुण-धर्म वाला है।

गुणणिव्वत्तियसण्णा[2] एवं दहणादओ[3] वि दट्ठव्वा।
जं तु जहा पडिसिद्धं दव्वमदव्वं तहा होइ ॥30॥

---

1. अ° गइपरिणयं।
2. ब° गुणनिवत्तिय सन्ना।
3. ब° वहणादओ।

गुणनिवर्तितसंज्ञैवं दहनादयोऽपि द्रष्टव्याः।
यत्तु यथा प्रतिषिद्धं द्रव्यमद्रव्यं तथा भवति ॥30॥

शब्दार्थ—एवं—इस प्रकार; गुणणिव्वत्तियसण्णा—गुण (से) सिद्ध संज्ञा (वाले); दहणादओ—दहन आदि (पदार्थ); वि—भी; दट्ठव्वा—देखे जाने चाहिए; जं तु—जो तो; जहा—जिस प्रकार; पडिसिद्धं—निषिद्ध (अपना कार्य नहीं करता है); दव्वं—द्रव्य (वह); तहा—वैसे (ही); अदव्वं—पदार्थ नहीं; होइ—होता है।

और अनेकान्त-पद्धति :

भावार्थ—इसी प्रकार शब्द की व्युत्पत्ति रूप संज्ञा वाले दहन आदि पदार्थों को जानना चाहिए। वे अपने नाम के अनुसार यदि कार्य करते हैं तो पदार्थ हैं, अन्यथा नहीं हैं। क्योंकि द्रव्य भाव से निषिद्ध होने पर अभावात्मक होता है। अतः जो पदार्थ अपना काम नहीं करता है, वह पदार्थ नहीं है।
प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने गुण के अनुसार कार्य करता है। द्रव्य कहते ही उसे हैं जो गुणों की ओर ढलता है। द्रव्य का कार्य पर्याय रूप होता है। पर्याय सद्भावात्मक होती है; बिना भाव के नहीं होती। बिना गुण की पर्याय ही अभावात्मक हो सकती है। लेकिन ऐसी कोई पर्याय नहीं होती है। अतः पर्याय का जन्म द्रव्य से होता है और वह द्रव्य में ही विलीन हो जाती है—इस अपेक्षा से तथा एक समय की 'सत्' होने से अभावात्मक कही जाती है।

कुंभो ण जीवदवियं जीवो वि ण होइ कुंभदवियं ति।
तम्हा दो वि अदवियं[1] अण्णोण्णविसेसिया होंति ॥31॥

कुम्भो न जीवद्रव्यं जीवोऽपि न भवति कुम्भद्रव्यमिति।
तस्माद् द्वावप्यद्रव्यमन्योन्यविशेषितौ भवतः ॥31॥

शब्दार्थ—कुंभो—घड़ा; ण—नहीं (है); जीवदवियं—जीव द्रव्य; जीवो वि—जीव भी; कुंभदवियं—घड़ा द्रव्य; ण—नहीं; होई—होता है; तम्हा—इससे; दो वि—दोनों ही; अण्णोण्णविसेसिया—एक-दूसरे (के गुणों से) भिन्न (विशिष्ट); अदवियं—अद्रव्य; होंति—होते हैं।

एक दृष्टान्त :

भावार्थ—जीव द्रव्य के गुणों की अपेक्षा से घड़ा जीव द्रव्य रूप नहीं है। इसी प्रकार जीव भी घड़े के गुणों की अपेक्षा से घट रूप नहीं है। अतएव ये परस्पर एक-दूसरे के गुणों की अपेक्षा अद्रव्य हैं। किन्तु अनेकान्त की दृष्टि से सामान्यतः दोनों ही

1. द' अदविअं।

द्रव्य हैं। जीव एक चेतन द्रव्य है और घड़ा अचेतन है। दोनों में परस्पर विरोधी धर्म रहते हैं। एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं। अनेकान्त इनका विरोध न कर समर्थन करता है।

प्रत्येक द्रव्य अखण्ड गुणों का पिण्ड है। द्रव्य में उपलब्ध होने वाले गुण-धर्म परस्पर विरोधी भी होते हैं; जैसे कि वृक्ष, पत्थर आदि शीतल होने पर भी अग्नि युक्त होते हैं। परन्तु परस्पर विरोधी गुण-धर्मों को अविरोधी सिद्ध करना ही अनेकान्त का कार्य है।

उप्पाओ दुवियप्पो[1] पओगजणिओ य वीससा[2] चेव।
तत्थ उ पओगजणिओ समुदयवाओ अपरिसुद्धो[3] ॥32॥

उत्पादो द्विविकल्पः प्रयोगजनितश्च विस्रसा चैव।
तत्र तु प्रयोगजनितः समुदयवादो अपरिशुद्धः ॥32॥

शब्दार्थ—उप्पाओ—उत्पाद; दुवियप्पो—दो प्रकार (का है); पओगजणिओ—प्रयोगजन्य; य—और; वीससा—विस्रसा (स्वाभाविक); चेव—ही; तत्थ उ—उसमें तो; पओगजणिओ—प्रयत्नजन्य (तो); समुदयवाओ—समुदायवाद (नाम वाला है और); अपरिसुद्धो—अपरिशुद्ध (भी है)।

उत्पाद के प्रकार :

भावार्थ—उत्पाद दो प्रकार का है—प्रयोगजन्य तथा स्वाभाविक। इनमें से प्रयोगजन्य उत्पाद को समुदायवाद भी कहते हैं, जिसका दूसरा नाम अपरिशुद्ध है।

उत्पाद और विनाश केवल प्रयत्नजन्य ही नहीं, अप्रयत्नजन्य भी होते हैं। जो उत्पाद प्रयत्नजन्य होता है, वह उत्पाद प्रायोगिक कहा जाता है; जैसे—मिट्टी के घड़े का उत्पन्न होना। घड़े की रचना कुम्हार के प्रयत्न से होती है, इसलिए घड़े की उत्पत्ति प्रायोगिक कही जाती है। यह अपरिशुद्ध इसलिए कहा गया है कि इस तरह का उत्पाद किसी विशेष द्रव्य के आश्रित नहीं रहता है। यह प्रायोगिक उत्पाद मूर्त व पौद्गलिक द्रव्यों में ही घटता है; अमूर्त द्रव्यों में नहीं होता। आकाश में उठने वाले मेघ तरह-तरह के रूप धारण करते हैं। मेघों में दृष्टिगोचर होने वाले विभिन्न आकार-प्रकार की कोई रचना करने वाला नहीं है। इसलिए उनकी रूप-रचना अप्रयत्नजन्य होने से स्वाभाविक उत्पाद रूप मानी जाती है। प्रयत्नजन्य उत्पाद का दूसरा नाम समुदायवाद भी है। बालू-रेत आदि के बिखरे हुए कणों के एकत्र होने पर स्कन्ध रूप रचना को प्रयत्नजन्य समुदाय उत्पाद कहते हैं।

---

1. ब° दुविगप्पो।
2. ब° विस्ससा।
3. ब° उवभोगजणिओ समुदयजणिओ अ थिरसुद्धो।

साभाविओ वि[1] समुदयकओ व्व एगंतिओ व्व[2] होज्जाहि।
आगासाईआणं तिण्हं परपच्चओ अणियमा ॥33॥

स्वाभाविकोऽपि समुदयकृतोपि ऐकान्तिकोऽपि भवेत्।
आकाशादीनां त्रयाणां परप्रत्यय. अनियमेन ॥33॥

शब्दार्थ—साभाविओ—स्वाभाविक (उत्पाद); वि—भी; समुदयकओ व्व—समुदायकृत और; एगंतिओ व्व—ऐकत्विक भी; होज्जाहि—होता (है); आगासाईआणं—आकाशादिक; तिण्हं—तीनों (धर्म, अधर्म और आकाश); परपच्चओ—परप्रत्यय (निमित्त होने से); अणियमा—अनियत (हैं)।

स्वाभाविक उत्पाद भी :

भावार्थ—स्वाभाविक उत्पाद भी दो प्रकार का है—समुदायकृत और ऐकत्विक। ऐकत्विक उत्पाद धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनों में पर प्रत्यय निमित्तक होने से अनियत है। स्वाभाविक समुदायकृत उत्पाद किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा उत्पन्न नहीं होता है। किन्तु ऐकत्विक उत्पाद वैयक्तिक कहा जाता है। इसे परसापेक्ष इसलिए कहा गया है कि जब जीव और पुद्गल द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं, तब धर्म द्रव्य उदासीन कारण रूप से उनकी सहायता करता है। 'अणियमा' पद से भी यह सूचित होता है कि ये स्वयं जीव और पुद्गल को नहीं चलाते हैं। किन्तु जिस प्रकार पथिक को ठहरने के लिए छाया उदासीन व अप्रेरक निमित्त है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए।
व्यवहार सम्बन्धी सभी कथन निमित्त की अपेक्षा किए जाते हैं। किन्तु पर निमित्त कर्ता नहीं होता है। अतः पर निमित्त निमित्त मात्र होता है। परिणमन द्रव्य का स्वभाव होने से वह स्वशक्ति से ही आविर्भूत होता है। स्वतः शक्ति के बिना उसमें उत्पाद नहीं हो सकता।

विगमस्स वि एस विहि समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो।
समुदयविभागमेत्तं अत्थंतरभावगमणं च ॥34॥

विगमस्याप्येष विधिः समुदयजनिते स तु द्विविकल्पः।
समुदयविभागमात्रमर्थान्तरभावगमनञ्च ॥34॥

शब्दार्थ—विगमस्स—विनाश की; वि—भी; एस—यह; विहि—पद्धति (है); सो—वह;

---

1. ब[1] प्रति में 'वि' नहीं है।
2. अ[2] एगंतिओ।

समुदयजणियम्मि—समुदायजनित में; दुवियप्पो—दो प्रकार (की है); समुदायविभागमेत्तं—समुदाय-विभागमात्र; च-और; अत्थंतरभावगमणं—अर्थान्तरभाव-प्राप्ति।

विनाश के दो प्रकार :

भावार्थ—उत्पाद की भाँति विनाश भी दो प्रकार का है—प्रयोगिक विनाश और स्वाभाविक विनाश। दूसरे के प्रयत्न से जो विनाश होता है, उसे प्रायोगिक विनाश कहते हैं; जैसे कि—मुद्गर से घट का विनाश होना। अपने ही प्रयत्न से होने वाले विनाश को स्वाभाविक विनाश कहा जाता है; यथा—मेघों का स्वतः नाश होना। ये दोनों प्रकार के विनाश समुदायविभागमात्र और अर्थान्तरभाव-प्राप्ति के भेद से दो प्रकार के हैं। समुदायविभागमात्र का दृष्टान्त है—मुद्गर के आघात से घड़ेका फूट जाना, टुकड़े-टुकड़े हो जाना। किन्तु अर्थान्तरभाव—प्राप्ति में एक पर्याय का नाश होने पर किसी नवीन पर्याय ही प्राप्ति हो जाती है; जैसे कि स्वर्ण-निर्मित केयूर के विनाश से कुण्डल, हार आदि का तथा बीज से अंकुर पौधे आदि का उत्पन्न तथा विनाश होना। इसी प्रकार समुदायविभाग मात्र रूप वैस्रसिक (स्वाभाविक) विनाश का दृष्टान्त है : मेघ का बिना प्रयत्न किए बिखर जाना। इसी प्रकार अर्थान्तरभाव—प्राप्ति रूप वैस्रसिक विनाश का दृष्टान्त है—नमक का पानी रूप होना या बर्फ का पिघल कर पानी बन जाना।

तिण्णि वि उप्पायाई अभिण्णकाला य भिण्णकाला य।
अत्थंतरं अणत्थंतरं च दवियाहिं णायव्वा ॥35॥

त्रयोऽप्युत्पादादयोऽभिन्नकालाश्च भिन्नकालाश्च।
अर्थान्तरमनर्थान्तरञ्च द्रव्याद् ज्ञातव्याः ॥35॥

शब्दार्थ—तिण्णि—तीनों; वि—हि; उप्पायाई—उत्पाद आदि (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों का) अभिण्णकाला—अभिन्न काल (एक समय); य—और; भिण्णकाला य—भिन्न (भिन्न) समय भी (किसी अपेक्षा कहा गया है); दवियाहिं—द्रव्यों से (अपने आश्रयभूत द्रव्यों से); अत्थंतर—अर्थान्तर (भिन्न पर्याय वाले हैं); च—और; अणत्थंतरं—अभिन्न पर्याय (वाले); णायव्वा—समझना चाहिए।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भिन्न तथा अभिन्न भी :

भावार्थ—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों का किसी अपेक्षा एक काल कहा गया है, किसी अपेक्षा अनेक भी कहा गया है। 'एक काल' का अभिप्राय यह है कि ये भिन्न-भिन्न समय में नहीं होते। इनके उत्पन्न होने का जो समय है, वही व्यय होने का है और वही ध्रौव्य का समय है। और 'अनेक काल' का तात्पर्य यह है कि उत्पाद

का काल भिन्न है, व्यय का काल भिन्न है और ध्रौव्य का काल भिन्न है। यद्यपि सामान्य रूप से वस्तु प्रत्येक समय में पूर्व जैसी ही प्रतीत होती है; किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम समय से दूसरे समय की स्थिति भिन्न है और दूसरे समय से तृतीय, चतुर्थ आदि समय की स्थिति भिन्न-भिन्न है। यदि ऐसा न माना जाए जाए, तो वस्तु का कभी विनाश नहीं हो सकता। परन्तु प्रत्येक समय में द्रव्य में उत्पाद और विनाश हो रहा है। यदि ऐसा न माना जाए तो संसार और मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकते। यह अनुभवसिद्ध है कि प्रत्येक जड़-चेतन द्रव्य की अवस्था क्षण-क्षण में पलटती रहती है।

जो आउंचणकालो[1] सो चेव पसारियस्स वि ण[2] जुत्तो।
तेसिं पुण पडिवत्तीविगमे[3] कालंतरं णत्थि ॥36॥

य आकुञ्चनकालः स चैव प्रसारितस्यापि न युक्तः।
तयोः पुनः प्रतिपत्तिविगमे कालान्तरं नास्ति ॥36॥

शब्दार्थ—जो—जो; आउंचणकालो—संकोचन (का) समय (है); सो—वह; चेव—ही; पसारियस्स—पसारने का (फैलाव का समय); वि—भी (है); ण जुत्तो—उपयुक्त नहीं (यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है); पुण—फिर (यह कहना कि); तेसिं—उन दोनों के (आकुंचन तथा प्रसारण के); पडिवत्तीविगमे—उत्पत्ति (और) विनाश में; कालंतरं—समय (का) अन्तर, णत्थि—नहीं है।

यह तर्क :

भावार्थ—जो यह कहा गया है कि वस्तु की उत्पत्ति, नाश एवं स्थिति का किसी अपेक्षा से एक समय है। इसी को ध्यान में रख कर कोई तर्क करता है कि अंगुली के संकुचित करने का जो समय है, वही उसके फैलाने का भी समय है—यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है।

दृष्टान्त के द्वारा समझाते हुए कहते हैं कि अंगुली पहले सीधी थी, वह अब टेढ़ी हो गयी है। इसका अर्थ यह है कि सीधापन मिट कर टेढ़ापन आ गया है। इसमें सीधेपन का विनाश भिन्न है और टेढ़ेपन का उत्पाद भिन्न है। इस प्रकार इनमें यहाँ पर समय-भेद देखा जा सकता है। सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्य ने इस समय-भेद की स्थापना की है।

---

1. ब' आउंचण। अ" आकुंचण।
2. ब' नो (विण के स्थान पर)।
3. ब" तेसुं पडिवत्ती पि अ विगमे।

उप्पज्जमाणकालं उप्पण्णं ति विगयं विगच्छंतं।
दवियं पण्णवयंतो तिकालविसयं विसेसेइ ॥37॥

उत्पद्यमानकालमुत्पन्नमिति विगतं विगच्छन्तम्।
द्रव्यं प्रज्ञापयन् त्रिकालविषयं विशेषयति ॥37॥

शब्दार्थ—उप्पज्जमाणकालं—उत्पन्न होते समय; उप्पण्णं—उत्पन्न (हुआ है); विगच्छंतं—नष्ट होते (समय); विगयं—नष्ट हो गया; ति—यह (इस प्रकार); पण्णवयंतो—प्ररूपणा करता हुआ; दवियं—द्रव्य को; तिकालविसयं—त्रिकाल विषयक (त्रैकालिक); विसेसेइ—विशेषित करता है।

और :

भावार्थ—द्रव्य के उत्पन्न होने के समय में ऐसा कहना कि यह उत्पन्न हो चुका है, यह नष्ट हो रहा है, यह नष्ट हो चुका है—इस प्रकार त्रैकालिक उत्पाद और व्यय को लेकर जो द्रव्य की प्ररूपणा करता है, वह द्रव्य को त्रिकालवर्ती विशेषित करता है।

द्रव्य किसी पर्याय की अपेक्षा नष्ट होता है, किसी पर्याय की अपेक्षा उत्पन्न होता है और किसी अपेक्षा वह स्थिर भी रहता है। उत्पत्ति, नाश एवं स्थिति का यह सम्बन्ध वर्तमान काल से है। इसी प्रकार द्रव्य किसी पर्याय की अपेक्षा नष्ट हुआ, उत्पन्न हुआ और स्थिर भी रहा—यह भूतकाल की अपेक्षा से है। इसी प्रकार भविष्यत् काल की अपेक्षा होने से द्रव्य उत्पन्न होगा, नष्ट होगा और स्थिर बना रहेगा। इस प्रकार ये तीनों कालत्रय की अपेक्षा से द्रव्य में घटित होते हैं।

वस्तुतः कोई द्रव्य कभी भी उत्पन्न नहीं होता। वर्तमान अवस्था के पलटने के कारण उसे उत्पन्न हुआ कहा जाता है। किन्तु परिणमनशील अवस्थाओं में भी वस्तु ज्यों की त्यों मूल रूप में बनी रहती है। इससे यह सिद्ध है कि जो वस्तु वर्तमान में है, वह अपने स्वरूप से पहले भी थी और भविष्य में भी रहेगी। इस प्रकार वस्तु त्रैकालिक है।

दव्वंतरसंजोगाहिं[1] के वि[2] दवियस्स बेंति[3] उप्पायं।
उप्पायत्था अकुसला विभागजायं[4] ण इच्छंति ॥38॥

द्रव्यान्तरसंयोगैः केऽपि द्रव्यस्य ब्रुवत उत्पादम्।
उत्पादार्था अकुशला विभागजातं नेच्छन्ति ॥38॥

1. ब° संजोआहिं।
2. ब° कंचि
3. द° बेंति
4. ब° विभागजाइं।

शब्दार्थ—उप्पायत्था—उत्पाद (के) अर्थ (से); अकुसला—अनभिज्ञ; के वि—कुछ (लोग); दव्वंतरसंजोगादिहिं—द्रव्यान्तर (के) संयोगों से; दवियस्स—द्रव्य की; उप्पायं—उत्पत्ति; बेंति—कहते हैं; विभागजायं—विभाग (से द्रव्य) उत्पन्न होता है, ऐसा; ण—नहीं; इच्छंति—मानते (हैं)।

अन्य मतावलम्बी :

भावार्थ—उत्पाद के अर्थ को नहीं जानने वाले कुछ अन्य मतावलम्बी एक द्रव्य के संयोग से अन्य द्रव्य की उत्पत्ति बताते हैं। वे द्रव्य को विभाग से उत्पन्न होने वाला नहीं मानते हैं। वैशेषिक आदि आरम्भवादियों की यह मान्यता है कि कारण से ऐसे कार्य की उत्पत्ति होती है जो पहले से कारण में नहीं था। उनके अनुसार कोई भी अवयवी द्रव्य जब नवीन रूप में बनकर तैयार होता है, तब वह अनेक अपने सहायक अवयवों के संयोग से ही बनता है, विभाग से नहीं बनता। अतः घट आदि के फूटने पर जो कपालमालादि दिखलाई पड़ती है, वह घट के विभाग से (फूटने से) उत्पन्न नहीं हुई है, किन्तु द्वयणुक आदि के संयोग से उत्पन्न हुई है। यथार्थ में द्रव्य संयोग से नहीं, किन्तु अपनी शक्ति से निष्पन्न होता है। यह लोक छह द्रव्यों का समूह है। इसमें देखे जाने वाले प्रत्येक द्रव्य की उत्पत्ति सहज स्वाभाविक है। अतः लोक अकृत्रिम है। यद्यपि लोक संयोग लक्षण वाला दिखाई पड़ता है, परन्तु यह संयोग से उत्पन्न नहीं हुआ।

अणु दुअणुएहिं दव्वे आरद्धे तिअणुयं ति ववएसो[1]।
तत्तो य पुण विभत्तो[2] अणु त्ति जाओ अणु होइ ॥39॥

अणु-द्व्यणुकै र्द्रव्ये आरब्धे त्र्यणुकमिति व्यपदेशः।
तस्माच्च पुनर्विभक्तोऽणुरिति जातोऽणुर्भवति ॥39॥

शब्दार्थ—दुअणुएहिं—दो अणुओं से (दो परमाणुओं के संयोग से); आरद्धे—आरब्ध (द्रव्य) में; अणु—अणु (है); तिअणुयं—त्र्यणुक (है); ति—यह; (ऐसा) ववएसो—व्यवहार (होता है); तत्तो—इस कारण; पुण—फिर; विभत्तो—विभक्त (हुआ त्र्यणुक से); अणु—अणु; जाओ—होने पर; अणु—अणु (ऐसा); ववएसो—व्यवहार; होइ—होता है।

दो अणुओं के संयोग से द्रव्य ?

भावार्थ—दो अणुओं के संयोग से जायमान द्रव्य में यह अणु है, यह त्र्यणुक है—ऐसा

---

1. ब' अणुअत्तएहिं आरद्धदव्वे तिअणुअं ति णिद्देसो।
2. ब' विभत्ते।

व्यवहार होता है। और उस त्र्यणुक से विभक्त हुआ अणु 'यह अणु है' ऐसा व्यवहार होता है। जैसे दो अणुओं के संयोग से उत्पन्न हुए द्रव्य में 'यह द्व्यणुक उत्पन्न हुआ है' तथा तीन अणुओं के संयोग से उत्पन्न हुए द्रव्य में 'यह त्र्यणुक उत्पन्न हुआ है' ऐसा व्यवहार होता है। इसी प्रकार परमाणुओं के समूह रूप स्कन्ध के विभक्त हो जाने पर (खण्ड-खण्ड हो जाने पर) ये अणु 'अणु' हुए हैं—ऐसा भी व्यवहार होता है। इस प्रकार संयोग तथा विभाग दोनों से घट-पटादि कार्य रूप द्रव्य की उत्पत्ति होती है—यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है। कहा भी है—

"भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते। भेदादणुः।"—तत्त्वार्थसूत्र, अ. 5, सू. 26, 27

अर्थात् भेद से, संघात से तथा भेद और संघात दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। स्कन्धों के भेद से दो प्रदेश वाले स्कन्ध तक उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है।

बहुयाण एगसद्दे जह संजोगाहि[1] होइ उप्पाओ।
णणु एगविभागम्मि वि जुज्जइ बहुयाण उप्पाओ ॥40॥

बहूनामेकशब्दे यथा संयोगैर्भवत्युत्पादः।
नन्वेकविभागेऽपि युज्यते बहूनामुत्पादः ॥40॥

शब्दार्थ—बहुयाण—बहुतों में; एगसद्दे—एक शब्द (का प्रयोग होने) पर; जह—जिस प्रकार; संजोगाहि—संयोगों से; उप्पाओ—उत्पत्ति; होइ—होती (है); णणु—निश्चय से; एगविभागम्मि—एक (का) विभाग होने पर; बहुयाण—बहुतों की; वि—भी; उप्पाओ—उत्पत्ति; जुज्जइ—बन जाती है।

विभाग से भी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति :

भावार्थ—बहुतों से संयोग होने पर जैसी एकाकार प्रतीति होती है तथा एक शब्दवाच्यता आती है, वैसी विभाग से उत्पन्न हुए कार्य-द्रव्य में नहीं होती—इस शंका के समाधान के लिए उक्त गाथा कही गयी है।

जिस प्रकार अनेक के संयोग से एक कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति होती है, वैसे ही एक के विभक्त होने पर अनेक कार्य-द्रव्यों की उत्पत्ति होती है; जैसे कि घड़ा फूट जाने पर अनेक खपरियाँ (टुकड़े) उत्पन्न दिखाई पड़ती हैं। अतएव विभाग से भी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति होती है।

पुद्गलों के अनन्त भेद हैं। सामान्यतः सभी अणुजाति और स्कन्धजाति के भेद से दो प्रकार के हैं। जिनमें स्थूल रूप से पकड़ना, रखना आदि व्यापार की संघटना होती

1. ब° जह संजोगाण।

है, वे स्कन्ध कहे जाते हैं। अन्तरंग और बहिरंग दोनों तरह के निमित्तों से संघातों के विदारण को भेद कहते हैं। एक समय में होने वाले भेद और संघात इन दोनों से दो प्रदेश वाले आदि स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। बिना भेद के अणु उत्पन्न नहीं हो सकता। एक स्कन्ध में अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं का संघात होता है। अतः उसके विखण्डन से भेद रूप अनेक की उत्पत्ति होती है।

एगसमयम्मि एगदवियस्स[1] बहुया वि होंति उप्पाया।
उप्पायसमा विगमा ठिईउ[2] उस्सग्गओ णियमा ॥41॥

एकसमये एकद्रव्यस्य बहवोऽपि भवन्त्युत्पादाः।
उत्पादसमा विगमाः स्थित्युत्सर्गतो नियमात् ॥41॥

शब्दार्थ—एगदवियस्स—एक द्रव्य की; एगसमयम्मि—एक समय में; बहुया—बहुत; वि—भी; उप्पाया—उत्पत्तियाँ; होंति—होती हैं (और); उप्पायसमा—उत्पत्ति (के) समान; विगमा—विनाश; ठिईउ—स्थिति (भी); उस्सग्गओ—सामान्यतः ; णियमा—नियम से (है)।

और भी :

भावार्थ—एक द्रव्य में एक समय में अनेक उत्पाद भी होते हैं। उसमें विनाश भी उत्पाद जितने होते हैं तथा सामान्यतः स्थितियाँ भी होती हैं।

द्रव्य गुण और पर्याय वाला होता है। द्रव्य में क्रमभावी पर्यायें क्रमशः होती रहती हैं। इसी दृष्टि से एक समय में द्रव्य में एक उत्पाद, एक ध्रौव्य और एक स्थिति कही गयी है। परन्तु द्रव्य में रहने वाले जो नित्य सहभावी ज्ञान, दर्शन आदि अनेक गुण हैं, उनमें प्रत्येक समय में परिणमन होता रहता है। वे निष्क्रिय नहीं हैं। अतः गुण में परिणमन की अपेक्षा से अनेक उत्पाद, व्यय तथा स्थितियाँ एक ही समय में होती रहती हैं। अतएव अन्य वादी का यह कथन उचित नहीं है कि एक ही समय में एक द्रव्य में अनेक उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कैसे घट सकते हैं?

कायमणवयणकिरियारूवाइगई[3] विसेसओ वावि[4]।
संजोगभेयओ[5] जाणणा य[6] दवियस्स उप्पाओ ॥42॥

---

1. ब° एकदवियस्स।
2. ब° ठिइओ।
3. द° 'किरिया' के स्थान पर 'करिआ'।
4. ब° होइ।
5. द° संजोअ। द° संजोयभेयवो।
6. ब° जाणणो वि।

काय-मनो-वचन-क्रिया-रूपादिगति-विशेषतो वापि।
संयोगभेदतो जानीयाच्च द्रव्यस्योत्पादः ॥42॥

शब्दार्थ—कायमणवयणकिरिया—शरीर, मन, वचन (की) क्रिया (से); रूवाइगई—रूप आदि (से एवं) गति; विसेसओ—विशेष से; वावि—भी; संजोगभेयओ—संयोग (और) विभाग से; दवियस्स—द्रव्य का; उप्पाओ—उत्पाद (होता है—ऐसा); जाणणा—जानें।

द्रव्य में एक ही समय में तीनों :

भावार्थ—एक संसारी जीव जब किसी विवक्षित गति में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न होता है, तब उसके एक ही समय में मन, वचन, शरीर आदि होते हैं। उसी समय में उसके देह रूप में अनेक पुद्गल-परमाणु, अनेक मनोवर्गणाएँ, अनेक वचन-वर्गणाएँ मन-वचन के रूप में परिणमन करती हैं। उसी समय आगामी काल में होने वाली पर्याय के योग्य कर्म-बन्ध, कर्मोदय आदि सब होते हैं। इसी प्रकार पूर्व काल में संचित कर्म-परमाणुओं की निर्जरा, विभाग आदि होते हैं तथा अनुगम रूप से इन सभी पर्यायों में जीवादि का अस्तित्व बना रहता है। इस प्रकार एक ही समय में एक ही द्रव्य में अनेक उत्पाद, व्यय और स्थिति होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

दुविहो धम्मावाओ[1] अहेउवाओ य हेउवाओ य।
तत्थ उ अहेउवाओ भवियाअभवियादओ भावा ॥43॥

द्विविधो धर्मवादोऽहेतुवादश्च हेतुवादश्च।
तत्र त्वहेतुवादो भव्याभव्यादयो भावाः ॥43॥

शब्दार्थ—धम्मावाओ—धर्मवाद; दुविहो—दो प्रकार (का है); अहेउवाओ—अहेतुवाद; य—और; हेउवाओ—हेतुवाद (के भेद से); य—और; तत्थ—उसमें; अहेउवाओ—हेतुवाद (के विषय); उ—तो; भवियाअभवियादओ—भव्य-अभव्य (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय) आदि; भावा—पदार्थ (हैं)।

धर्मवाद भी दो प्रकार का :

भावार्थ—धर्मवाद (वस्तु में अनन्त धर्म हैं, यह निर्दोष रीति से प्रतिपादन करने वाला आगम) दो प्रकार का है—एक हेतुवाद दूसरा अहेतुवाद। आगम में प्रतिपादित तत्त्वों की प्ररूपणा इन दो भागों में विभक्त है। केवल आज्ञाप्रधानी या श्रद्धाप्रधानी अथवा

---

1. द° धम्मोवाओ।

परीक्षाप्रधानी हेतुवाद होना श्रेयस्कर नहीं है। क्योंकि जहाँ तक हेतुवाद से लाभ हो सकता है, वहाँ तक परीक्षाप्रधानी बन कर अवश्य लाभ लेना चाहिए। परन्तु जहाँ हेतुवाद की आवश्यकता न हो, अवकाश न हो, वहाँ आज्ञाप्रधानी बन कर उस तत्त्व को स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार दोनों दृष्टियों से वस्तु-तत्त्व का रहस्य समझा जा सकता है; एकदृष्टि मात्र से नहीं। आगम में इसीलिए दोनों नयों (दृष्टियों) की प्ररूपणा की गई है।

भविओ सम्मद्दंसणणाणचरित्तपडिवत्तिसंपन्नो[1]।
णियमा दुक्खंतकडो[2] त्ति[3] लक्खणं हेउवायस्स ॥44॥

भव्यः सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रप्रतिपत्तिसम्पन्नात्।
नियमाद् दुःखान्तकृदिति लक्षणं हेतुवादस्य ॥44॥

शब्दार्थ—समद्दंसणणाणचरित्त—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान (और) सम्यक् चारित्र (की); पडिवत्ति—प्राप्ति (से); संपन्नो—युक्त (जीव); भविओ—भव्य (है); णियमा—नियम से (यह); दुक्खंतकडो—दुःखों का अन्त करने वाला (होगा); त्ति—यह; हेउवायस्स—हेतुवाद का; लक्खणं—लक्षण (है)।

भव्य कौन?

भावार्थ—जिस जीव को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त होने वाले हैं, वह भव्य जीव कहा गया है। जिसे सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता, वह अभव्य है। इस प्रकार आगम में प्ररूपित तत्त्व को जान कर जो प्राणी किसी जीव में व्यक्त सम्यग्दर्शनादि भव्य लक्षण को देखता है, तो वह अनुमान से जान लेता है कि यह भव्य तथा अल्प संसारी है। इस प्रकार से उसका यह जानना हेतुवाद पूर्वक होने से हेतुवाद स्वरूप है। इसी प्रकार चैतन्य से रहित वस्तु को अजीव जानना भी हेतुवाद है; क्योंकि यह अनुमान से जाना जाता है। जो तत्त्व केवल आगम में कहा गया है, जिसमें हेतुवाद नहीं चल सकता है; जैसे कि जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं—यह कथन अहेतुवाद का विषय है। जीव के भव्य, अभव्य भेद क्यों किए गए? इस सम्बन्ध में चिन्तन करने के लिए हेतुवाद को अवकाश नहीं है।

जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे य आगमिओ।
सो ससमयपण्णवओ[3] सिद्धंतविराहओ अण्णो[4] ॥45॥

---

1. द[1] संपण्णो।
2. द[1] दुक्खंतविअत्ति।
3. द[1] समए पन्नतो।
4. द[1] अण्णो।

य हेतुवादपक्षे हेतुक आगमे चागमिकः।
सः स्वसमयप्रज्ञापकः सिद्धान्तविराधकोऽन्यः ॥45॥

शब्दार्थ—जो—जो (पुरुष); हेउवायपक्खम्मि—हेतुवाद (के) पक्ष में; हेउओ—हेतु (का); आगमे य—और आगम में; आगमिओ—आगम (का प्रयोग करता है); सो—वह; ससमयपण्णवओ—स्व समय का प्ररूपक (है); अण्णो—अन्य (इससे भिन्न); सिद्धंतविराहओ—सिद्धान्त (का) विराधक (है)।

स्वसमय-प्ररूपक :

भावार्थ—सर्वज्ञ की सत्ता स्थापित करना, मुक्ति को उपलब्ध जीव का संसार में लौट कर पुनः न आना, इत्यादि कथन सुनिश्चित व असंभव-बाधक रूप हेतु होने से हेतुवाद का ही विषय है। जो विषय हेतुवाद का है, उसे हेतुवाद से जानने वाला ही स्वसमय का प्ररूपक कहा गया है। इसी प्रकार जो विषय आगमवाद का है, उसे भी श्रद्धापूर्वक आगम से जानने वाला स्वसमयप्ररूपक है। किन्तु जो आगमवाद में हेतुवाद का और हेतुवाद में आगमवाद का प्रतिपादन करता है, वह व्यक्ति अनेकान्त सिद्धान्त की विराधना करने वाला है।

परिसुद्धो णयवाओ आगममेंत्तत्थसाहओ होइ[1]।
सो चेव दुण्णिगिण्णो[2] दोण्णि वि पक्खे विधम्मेइ[3] ॥46॥

परिशुद्धो नयवाद आगममात्रार्थसाधको भवति।
स चैव दुर्निगीर्णो द्वावपि पक्षौ विधर्मयति ॥46॥

शब्दार्थ—आगममेंत्तत्थ—आगम मात्र अर्थ (केवल श्रुत कथित विषय का); साहओ साधक; परिसुद्धो—परिशुद्ध; णयवाओ—नयवाद; होइ—होता (है); सो—वह; चेव—ही और (जब); दुण्णिगिण्णो—दुर्निक्षिप्त (परस्पर निरपेक्ष रखा जाता है, तब); दोण्णि वि—दोनों ही; पक्खे—पक्ष में (का); विधम्मेइ—विनाशक होता (है)।

शुद्ध नयवाद :

भावार्थ—जो नय अपने विरोधी नय की मान्यता का खण्डन न कर आगम के अनुसार वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन करता है, वह शुद्ध नयवाद कहा जाता है। यद्यपि यह नयवाद वस्तु में विद्यमान अनन्त धर्मों का प्रतिपादक नहीं है, किन्तु किसी एक

1. ब" भणिओ।
2. ब" दुन्नयिणो।
3. ब" विहम्मे वि।

धर्म को ग्रहण कर उसे अपना विषय बनाता है; परन्तु अन्य धर्मों का अथवा अन्य विषय का यह लोप नहीं करता है। इस प्रकार अनेक नयों (दृष्टियों) के साथ इसका सामंजस्य बना रहता है। अतएव वस्तुगत सभी धर्म क्रमशः नयवादों द्वारा प्ररूपित होते हैं। यही कारण है कि नयवाद को परिशुद्ध कहा गया है।

जावदिया वयणवहा[1] तावदिया चेव होंति णयवाया।
जावदिया णयवाया तावदिया चेव परसमया ॥47॥

यावन्तो वचनपथास्तावन्तश्चैव भवन्ति नयवादाः।
यावन्तो नयवादास्तावन्तश्चैव परसमयाः ॥47॥

शब्दार्थ—जावइया—जितने (भी); वयणवहा—वचनपथ (प्रकार हैं); तावइया—उतने; चेव—ही; णयवाया—नयवाद; होंति—होते हैं (और); जावइया—जितने; णयवाया—नयवाद (हैं); तावइया—उतने; चेव—ही; परसमया—अन्य मत (हैं)।

जितने वचन-प्रकार उतने नयवाद :

भावार्थ—वस्तुगत धर्मों का प्रतिपादन करने के लिए वक्ता के जितने वचन-प्रकार (अभिप्राय) हैं, उतने ही नयवाद हैं। प्राचीन आचार्यों का यह मत है कि नय वक्ता के अभिप्राय विशेष को प्रकट करने वाला है। अभिप्राय विशेष को व्यक्त करने वाले जितने कथन-प्रकार हो सकते हैं, उतने ही नय होते हैं। सामान्यतः परस्पर निरपेक्ष कथन करने वाले परसमय हैं तथा सापेक्ष कथन करने वाले स्वसमय हैं। अतएव जितने भी परस्पर निरपेक्ष अभिप्राय करने वाले हैं या हो सकते हैं, उतने ही परसमय हैं।

उक्त गाथा 'गोम्मटसार कर्मकाण्ड' में गा. 894 के रूप में उपलब्ध होती है। 'षट्खण्डागम' जीवस्थान 1, 1, 1 में गा. 67 तथा 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में पृ. 114 एवं 'प्रवचनसार' की चरणानुयोग सूचक चूलिका के अन्त में उद्धृत पाई जाती है।

जं कावि लं दरिसणं एयं[2] दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं।
सुद्धोयणतणयस्स उ परिसुद्धो पज्जववियप्पो[3] ॥48॥

यत्कापिलं दर्शनमेतद् द्रव्यार्थिकस्य वक्तव्यम्।
शुद्धोदनतनयस्य तु परिशुद्धः पर्यवविकल्पः ॥48॥

---

1. अ' वयणवहा। ब' वयणपहा।
2. ब द' एवं।
3. ब' विगप्पो। अ' वियप्पो।

शब्दार्थ—जं—जो; काविलं दरिसणं—सांख्य दर्शन (है वह); एयं—यह (इस); दव्वट्ठियस्स—द्रव्यार्थिक (नय) का; वत्तव्वं—वक्तव्य (है); सुद्धोयणतणयस्स उ—किन्तु गौतम बुद्ध का (सिद्धान्त); परिसुद्धो—बिल्कुल शुद्ध; पज्जवविअप्पो—पर्यायार्थिक नय का विकल्प (है)।

सांख्य तथा बौद्धमत :

भावार्थ—परमार्थ से या द्रव्यार्थिक नय से एकान्त मान्यता का प्रतिपादन करने वाला सांख्य दर्शन है। यह दर्शन किसी अपेक्षा से सत् का विनाश तथा किसी अपेक्षा से असत् का उत्पाद नहीं मानता है। यह द्रव्यार्थिक नय की रीति से द्रव्य को ही विषय करता है। द्रव्य न तो कभी नया उत्पन्न होता है और न द्रव्य का कभी विनाश होता है—यह परिणामवादी सिद्धान्त है। इसकी दृष्टि में प्रत्येक तत्त्व सत् स्वरूप ही है। बौद्धदर्शन केवल वर्तमान पर्याय मात्र तत्त्व मानता है। उसकी दृष्टि में कोई भी तत्त्व त्रिकालवर्ती नहीं है। हमें जो यह प्रतीति होती है कि 'यह वही है' उसका कारण सादृश्य है। पर्यायार्थिक नय का भेद रूप ऋजुसूत्रनय भी यही प्रतिपादन करता है। इसलिए पर्यायार्थिक नय की एकान्त मान्यता वाला बौद्धदर्शन कहा गया है।

दोहि वि णयेहि णीयं[1] सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं।
जं सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खा ॥49॥

द्वाभ्यामपि नयाभ्यां नीतं शास्त्रमुलूकेन तथापि मिथ्यात्वम्।
यः स्वविषयप्रधानत्वेनान्योन्यनिरपेक्षा ॥49॥

शब्दार्थ—दोहि वि—दोनों ही; णयेहि—नयों से; उलूएण—कणाद ने (के द्वारा); सत्थं—शास्त्र (वैशेषिक दर्शन की); णीयं—रचना की; तह वि—तो भी; मिच्छत्तं—मिथ्यात्व, (विपरीत, अप्रमाण है); जं—जो (ये दोनों नय); सविसयप्पहाणत्तणेण—अपने विषय (की) प्रधानता से; अण्णोण्णणिरवेक्खा—परस्पर निरपेक्ष (हैं)।

वैशेषिक दर्शन भी :

भावार्थ—यद्यपि वैशेषिक दर्शन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों की मान्यता वाला है, किन्तु वह किसी तत्त्व को नित्य और किसी तत्त्व को अनित्य मानता है। अतः उसकी मान्यता में एक नय दूसरे नय की मान्यता का खण्डन करने वाला है। इसलिए यह सिद्धान्त भी परसमय रूप है। क्योंकि जैन-सिद्धान्त की मान्यता तो यह है कि सभी वस्तुएँ कथंचित् नित्य एवं कथंचित् अनित्य हैं। परन्तु जो सर्वथा

---

1. ब° णीयं

नित्य या सर्वथा अनित्य मानते हैं, वे प्रमाण कैसे हो सकते हैं? इसी प्रकार किसी को नित्य और किसी को अनित्य मानना भी प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में त्रिकाल गुण-धर्म शक्ति विद्यमान रहती है। अतः वह द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है।

जे संतवायदोसे सक्कोलूया भणंति[1] संखाणं।
संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥50॥

यान्सद्वाददोषान् शाक्योलूक्या भणन्ति साङ्ख्यानाम्
साङ्ख्याश्च असद्वादे तेषां सर्वेऽपि ते सत्यानि ॥50॥

शब्दार्थ—सक्कोलूया—बौद्ध (एवं) वैशेषिक; जे—जिन; संतवायदोसे—सत् (कार्य) वादी दोषों को; संखाणं—सांख्य के (सिद्धान्त पर); भणंति—कहते हैं; तेसिं—उनके; य—और; संखा—सांख्य; असव्वाए —असद्वाद (पक्ष) में (दोष प्रकट करते हैं); ते—वे; सव्वे वि—सभी (दोष); सच्चा—सच्चे (हैं)।

वे सभी सदोष :

भावार्थ—बौद्ध और वैशेषिक सांख्यों के सद्वाद पक्ष में जो दोष बताते हैं, वे सब सत्य हैं। इसी प्रकार—सांख्य लोग बौद्ध तथा वैशेषिक के असद्वाद में जो दोष लगाते हैं, वे भी सच्चे हैं।

सांख्य सत्कार्यवादी हैं। उसकी दृष्टि में घट पर्याय कोई नवीन उत्पन्न नहीं होती। वह तो स्वयं कारण रूप मिट्टी में पहले से ही छिपी हुई है, निमित्त कारण पा कर प्रकट हो जाती है। परन्तु असत् कार्यवादी बौद्ध तथा वैशेषिक ऐसा कहते हैं कि आप की मान्यता सम्यक् मानी जाए, तो कार्य को प्रकट करने के लिए कारण की आवश्यकता क्या है? क्योंकि कार्य तो अपने कारण में विद्यमान है। यदि यह कहा जाए कि कारण से उसका आविर्भाव होता है, तो सत्कार्यवाद समाप्त हो जाता है; क्योंकि उत्पत्ति का दूसरा नाम ही आविर्भाव है। मिट्टी में घड़े की अवस्था छिपी हुई थी। निमित्त कारण से वह अवस्था प्रकट हो जाती है। इसी अवस्था का नाम उत्पत्ति है। इस अवस्था में क्या विशेषता है ? यह समझाते हुए कहते हैं—

---

1. ब" वयंति (?)

ते उ भयणोवणीया सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति।
जं भवदुक्खविमोक्खं[1] दो वि ण पूरेंति[2] पाडिक्कं[3] ॥51॥

तौ तु भजनोपनीतौ सम्यग्दर्शनमनुत्तरं भवतः।
यद् भवदुःखविमोक्षं द्वावपि न पूरयतः प्रत्येकम् ॥51॥

शब्दार्थ—ते—वे दोनों (सत्वाद, असत्वाद); भयणोवणीया—विभाग (किए जाने पर); अणुत्तरं—सर्वोत्तम; सम्मद्दंसणं—सम्यग्दर्शन; होंति—होते (हैं); जं—जो (वह); पाडिक्कं—प्रत्येक; दो वि—दोनों ही; भवदुक्खविमोक्खं—संसार (के) दुःख (से) मुक्ति; ण—नहीं; पूरेंति—दिला सकते हैं।

वाद सम्यक् कब ?

भावार्थ—जब वे दोनों वाद (सद्वाद तथा असद्वाद) अनेकान्त दृष्टि से युक्त होते हैं, तभी सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनते हैं। क्योंकि एक-दूसरे की मान्यता से रहित सर्वथा स्वतन्त्र रूप में रहने पर वे संसार के दुखों से जीव को मुक्ति नहीं दिला सकते। बौद्ध और वैशेषिकों के प्रति सांख्य का यह कथन है कि यदि अपूर्व ही घटादि कार्य उत्पन्न होते हैं, तो मनुष्य के मस्तक पर सींग भी होने चाहिए। फिर, यह नियम नहीं बन सकता कि मिट्टी से ही घड़ा बनता है, सूत से ही वस्त्र बनता है। इस प्रकार चाहे जिस पदार्थ से चाहे जिस कार्य की उत्पत्ति हो जानी चाहिए; किन्तु लोक में ऐसा नहीं होता है। आम के पेड़ से ही आम के फल मिलते हैं। अतः इन परस्पर निरपेक्ष दृष्टियों पर जो दोषारोपण किए जाते हैं, वे सर्वथा सत्य ही हैं।

णत्थि पुढवीविसिट्ठो घडो त्ति जं तेण जुज्जइ अण्णण्णो।
जं पुण घडो[4] त्ति पुव्वं ण आसि पुढवी तओ अण्णो ॥52॥

नास्ति पृथ्वीविशिष्टो घट इति य तेन युज्यते अनन्यः।
यः पुनर्घट इति पूर्वं नासीत् पृथ्वी ततोऽन्यः ॥52॥

शब्दार्थ—घडो त्ति—घड़ा यह; पुढवीविसिट्ठो—पृथ्वी (से) विशिष्ट (भिन्न); णत्थि—नहीं (है); जं—जो; तेण—उससे; अणण्णो—अभिन्न; जुज्जइ—युक्त होता है; जं—जो; पुण—पुनः (फिर); त्ति—यह (पृथ्वी); पुव्वं—पहले; घडो—घड़ा; ण—नहीं; आसि—था; तओ—इसलिए; पुढवी—पृथ्वी (से); अण्णो—भिन्न (है)।

---

1. ब" भयणावणीआ। द' भवणोवणीया।
2. ब" भविदोसविमुक्खं।
3. ब" पूरेंति।

और फिर :

भावार्थ—घड़ा पृथ्वी से भिन्न नहीं है, इसलिए उससे अभिन्न है तथा घड़ा पृथ्वी में पहले नहीं था, इसलिए वह उससे भिन्न है। यह निश्चित है कि मिट्टी में घड़े रूप होने की योग्यता, शक्ति है। किन्तु केवल मिट्टी की दशा में वह घड़ा नहीं है। विभिन्न सहकारी कारणों से युक्त होकर मिट्टी स्वयं घड़े रूप परिणमती है। अतएव घड़ा मिट्टी से अभिन्न भी है और भिन्न भी है। विभिन्न कारण-कलापों के योग से मिटटी का घड़ा बनता है जो प्रत्यक्ष रूप से भिन्न दिखलाई पड़ता है। किन्तु वास्तव में मिट्टी का विशिष्ट परिणमन ही घड़े के आकार का निर्माण है। मूल द्रव्य का कोई निर्माणकर्ता नहीं है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन भी स्वतन्त्र है। इसलिए मिट्टी में जो भी परिणमन होता है, वह अपनी योग्यता से होता है। परमार्थ में उसे कोई परिणमाने वाला नहीं है।

कालो सहाव णियई पुव्वकयं[1] पुरिस कारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेव उ[2] समासओ होंति सम्मत्तं ॥53॥

कालः स्वभावः नियतिः पूर्वकृतं पुरुष-कारणैकान्तः।
मिथ्यात्वं ते चैव तु समासतो भवन्ति सम्यक्त्वम् ॥53॥

शब्दार्थ—कालो—काल; सहाव—स्वभाव; णियई—नियति; पुव्वकयं—पूर्वकृत (अदृष्ट); पुरिस—पुरुषार्थ; कारणेगंता—कारण (विषयक) एकान्त (वाद); मिच्छत्तं—मिथ्यात्व (है); ते—वे; चेव ही; समासओ—समस्त (रूप में, सापेक्ष रूप से मिलने पर); सम्मत्तं—यथार्थ; होंति—होते हैं।

कार्य की उत्पत्ति स्व-कारण से :

भावार्थ—प्रत्येक कार्य अपने कारण से उत्पन्न होता है—यह एक शाश्वत नियम है। क्योंकि लोक में जो भी कार्य उत्पन्न हुए देखे जाते है, उनमें कोई-न-कोई कारण-सम्बन्ध लक्षित होता है। इन कारणों के सम्बन्ध में ही यहाँ पर विचार किया गया है। कोई काल को कारण मानता है, तो कोई स्वभाव को। यही नहीं, कोई नियति को कारण मानता है और कोई अदृष्ट को। कोई इन चारों को कारण न मान कर केवल पुरुषार्थ को ही कारण मानता है। इस प्रकार कारण के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। एक कारणवादी दूसरे कारणवादी की मान्यता का तिरस्कार करता है। अतएव सभी एकान्त रूप से अपनी-अपनी मान्यता को अंगीकार किए हुए हैं। ये

---

१. द° पाडेक्कं।

२. ब° पुधगयं।

सभी विचार अपने आप में अपूर्ण हैं। इनमें किसी प्रकार की समन्वय दृष्टि नहीं है। इसलिए ये सम्यक् नहीं हो सकते हैं।
वास्तव में नियम यह है कि एक कार्य कई कारणों से मिल कर होता है। मुख्य रूप से कारण दो प्रकार के हैं—अन्तरंग और बहिरंग। स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ और अदृष्ट अन्तरंग कारण हैं। काल आदि बहिरंग हैं। इन सब से मिल कर कार्य होता है।

णत्थि ण णिच्चो ण कुणइ कयं ण वेएइ णत्थि णिव्वाणं।
णत्थि य मोक्खोवाओ[1] छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥54॥

नास्ति न नित्यो न करोति कृतं न वेदयति नास्ति निर्वाणम्।
नास्ति च मोक्षवादः षड् मिथ्यात्वस्य स्थानानि ॥54॥

शब्दार्थ—णत्थि—नहीं है (आत्मा); ण—नहीं; णिच्चो—नित्य (है); ण—नहीं (है); कुणइ—करता (कुछ भी); कयं—किए हुए (को); ण—नहीं; वेएइ—जानता (है); णत्थि—नहीं है; णिव्वाणं—निर्वाण (मुक्ति); य—और; मोक्खोवाओ—मोक्ष (का) उपाय; णत्थि—नहीं है (तथा); छम्मिच्छत्तस्स—मिथ्यात्व के (ये) छह; ठाणाइं—स्थान (हैं)।

अनात्मवादी मान्यता अयथार्थ :

भावार्थ—अनात्मवादी माध्यमिकों की तथा चार्वाक की यह मान्यता है कि आत्मा कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। आत्मा है, पर नित्य नहीं है। क्षणिकैकान्तवादी बौद्ध यह मानते हैं कि वह क्षण-क्षण में नष्ट होता रहता है। अकर्तृत्ववादी सांख्य का यह मत है कि आत्मा क्षणिक तो नहीं, स्थायी है; परन्तु वह कुछ करता नहीं है। जो कुछ भी करती है, वह प्रकृति ही करती है। लेकिन क्षणिकवादी बौद्ध ऐसा मानते हैं कि आत्मा शुभाशुभ कर्मों का कर्ता तो है, पर वह क्षणिक होने से उसके फल को नहीं भोगता है। अनिर्वाणी मीमांसकों का यह कथन है कि वह कर्ता तथा भोक्ता भी है, किन्तु उसे परमात्मा पद की प्राप्ति नहीं होती, उसकी मुक्ति नहीं होती। अनुपायवादी वैशेषिकों की यह मान्यता है कि मोक्ष प्राप्त करने का उपाय ही नहीं है। ये सभी मान्यताएँ मिथ्यात्व हैं। क्योंकि इस प्रकार की मान्यता से सम्यक् प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

अत्थि अविणासधम्मी[2] करेइ वेएइ अत्थि णिव्वाणं।
अत्थि य मोक्खोवाओ[3] छस्समत्तस्स[4] ठाणाइं ॥55॥

अस्ति अविनाशधर्मी करोति वेदयति अस्ति निर्वाणम्
अस्ति च मोक्षोपायः षट् सम्यक्त्वस्य स्थानानि ॥55॥

1. ब[1] तं चेव उ।
2. ब[2] मोक्खोवाओ नत्थित्थ।
3. ब[3] धम्मा।
4. ब[4] मोक्खोवाओ अत्थि उ।

शब्दार्थ—अत्थि—है (आत्मा); अविणासधम्मी—अविनाशी स्वभाव (वाला है); करेइ-कर्ता (है वह शुभ-अशुभ कर्मों का); वेएइ—जानता (है); णिव्वाणं-निर्वाण (मुक्ति है), य—और; मोक्खोवाओ—मोक्ष (का) उपाय (है); छस्समत्तस्स—सम्यकत्व के (ये) छह; ठाणाइं—स्थान (हैं)।

आत्मवादी यथार्थ कैसे ?

भावार्थ—आत्मा है। तीनों कालों में वह किसी भी समय मूल रूप से नष्ट नहीं होता, क्योंकि उसका स्वभाव अविनाशी है। वह पुण्य-पाप का स्वयं कर्ता है और उसके फल का स्वयं ही भोक्ता है। जब सभी कर्म-बन्धनों से वह छूट जाता है, तब उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अतः मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है। इस प्रकार की ये छह मान्यताएँ सम्यक् रूप मानी गई हैं। इन मान्यताओं वाला व्यक्ति आत्मानुभव में लगता है और शुभ-अशुभ से हट कर शुद्धता का आलम्बन लेकर मुक्ति प्राप्त करता है। अतः आत्मवादी ही परम सुख को प्राप्त कर सकता है। जो निज शुद्धात्म स्वभाव को नहीं जानता है, वह आत्मवादी नहीं है। क्योंकि स्वानुभूतिगम्य स्व-संवेदन को उपलब्ध हुए बिना सत्य को कौन प्राप्त कर सकता है? सत्य की प्राप्ति के बिना कौन मुक्त है? सत्य ही यथार्थ है।

साहम्मऊ व्व अत्थं साहेंज्ज[1] परो विहम्मओ वा वि।
अण्णोण्णं पडिकुट्ठा दोण्णि वि[2] एए असव्वाया ॥56॥

साधर्म्यं त एवार्थं साधयेत् परो वैधर्म्याद् वापि।
अन्योन्यं प्रतिक्रुष्टौ द्वावप्येतावसद्वादौ ॥56॥

शब्दार्थ—परो—पर (एकान्तवादी); साहम्मऊ—साधर्म्य से; व्व—अथवा; विहम्मओ—वैधर्म्य से; वा वि—भी; अत्थ—अर्थ (साध्य); साहेंज्ज—साधे; एए—ये; दोण्णि वि—दोनों ही; अण्णोण्णं—परस्पर; पडिकुट्ठा—प्रतिषिद्ध (प्रतिकूल); असव्वाया—असद्वाद (हैं)।

अनेकान्त-दृष्टि के अभाव में :

भावार्थ—अनेकान्त-दृष्टि को विस्मृत कर कोई वादी साधर्म्य दृष्टि से या वैधर्म्य दृष्टि से अपने साध्य रूप अर्थ को सिद्ध करता है, तो दोनों दृष्टियाँ परस्पर प्रतिकूल होती हैं तथा दोनों वाद असद्वाद कहे जाते हैं। यदि ये दोनों मान्यताएँ अनेकान्त शासन की मुद्रा से मुद्रित हों, तो उनमें परस्पर सौहार्द होने से कोई खण्डित नहीं कर

1. द' भिच्छत्तस्स।
2. द' साहेअ।

सकता है। इसलिए किसी एक ही वस्तु में नित्यता और अनित्यता सिद्ध करने के लिये केवल साधर्म्य दृष्टान्त या वैधर्म्य दृष्टान्त का प्रयोग करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उनमें समन्वय होना भी आवश्यक है। क्योंकि समन्वय के अभाव में ये दोनों ही परस्पर विरोधी हैं तथा अपूर्ण हैं। इनमें समन्वय न होने से ये एक-दूसरे को मान्य नहीं हो सकते। परिणामस्वरूप इनका आपसी विरोध कभी शान्त नहीं हो सकता। अतएव ग्रन्थकार ने परस्पर विरुद्ध दोनों मान्यताओं को 'असद्वाद' कहा है।

दव्वट्ठियवत्तव्वं सामण्णं पज्जवस्स य विसेसो[1]।
एए समोवणीया[2] विभज्जवायं विसेसेंति[3] ॥57॥

द्रव्यार्थिकवक्तव्यं सामान्यं पर्यवस्य च विशेषः।
एतौ समुपनीतौ विभज्यवादं विशेषतः ॥57॥

शब्दार्थ—दव्वट्ठियवत्तव्वं—द्रव्यार्थिक (नय का) वक्तव्य; सामण्णं—सामान्य (है), य—और; पज्जवस्स—पर्यायार्थिक (नय) का (वक्तव्य); विसेसो—विशेष (है); समोवणीया—प्रस्तुत; एए—ये दोनों (सापेक्ष रूप से); विभज्जवायं—अनेकान्तवाद को; विसेसेंति—विशिष्ट बनाते हैं (रचते हैं)।

अनेकान्तवाद का आधार ये दोनों नय :

भावार्थ—द्रव्यार्थिक नय की मान्यता से सामान्य ही वास्तविक है तथा पर्यायार्थिक नय की मान्यता से केवल विशेष ही वास्तविक है। परन्तु इन दोनों के सापेक्ष होने पर एक-दूसरे का अस्तित्व सम्भावित हो जाता है। अतएव जब सामान्य धर्म की विवेचना की जाती है तो विशेष धर्म अविवक्षित होने से गौण हो जाता है। इसी प्रकार जब विशेष धर्म की प्ररूपणा होती है तो सामान्य धर्म गौण हो जाता है। इनमें जो परस्पर मुख्य, गौण दृष्टि अन्वित रहती है, वही अनेकान्त की आधार-शिला है। इस प्रकार इन दोनों नयों के सापेक्ष होने पर अनेकान्तवाद का जन्म होता है।
द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है। इसलिये जब सामान्य का कथन किया जाता है तो विशेष गौण हो जाता है, उसका अभाव नहीं होता। इसी प्रकार जब विशेष का कथन मुख्य रूप से किया जाता है तो सामान्य गौण हो जाता है, उसका अभाव नहीं होता। दोनों प्रकार के गुण-धर्म प्रत्येक समय में द्रव्य में रहते हैं।

---

1. अ' दोण्णवि।
2. द' विसेसा।
3. द' समोवणीया।

हेउविसओवणीयं[1] जह वयणिज्जं परो णियत्तेइ।
जइ तं तहा पुरिल्लो दाइंतो केण जिव्वंतो[2] ॥58॥

हेतुविषयोपनीतं यथा वचनीयं परो निवर्तयति।
यदि तत्तथा पौरस्त्यो दर्शयिता केनाजेष्यत ॥58॥

शब्दार्थ—हेउविसओवणीयं—हेतु (के) विषय (रूप में) प्रस्तुत; वयणिज्जं—वचन योग्य (विषय को); जह—जिस प्रकार; परो—प्रतिवादी; णियत्तेइ—निवारण करता है; जइ—यदि; पुरिल्लो—पूर्ववर्ती (वादी ने); तं—उस (साध्य को); तहा—उसी प्रकार (हेतुपूर्वक); दाइंता दिखलाया (हो तो); केण—किसके द्वारा; जिव्वंतो—जीता (जा सकता है)?

हेतुपूर्वक अनेकान्त-दृष्टि का खण्डन नहीं :

भावार्थ—यदि वादी पहले से ही अनेकान्त-दृष्टि को रख कर हेतु पूर्वक साध्य का उपन्यास करता है, तो प्रतिवादी में ऐसी शक्ति नहीं है जो उसे पराजित कर सके। दूसरे शब्दों में प्रयोग-काल में साध्य के अविनाभावी हेतु के प्रयोग से साध्य की सिद्धि करने वाले वादी को कोई जीत नहीं सकता है; क्योंकि उसके वचन अनेकान्त रूपी कवच से सुरक्षित होते हैं। फिर, साध्य वादी को ही इष्ट होता है; प्रतिवादी को नहीं। अतः हेतुपूर्वक अनेकान्त दृष्टि ही अजेय है। उसके सिवाय अन्य दृष्टि का खण्डन हो सकता है। परन्तु अनेकान्त की सिद्धि अनेकान्त से होने से उसका खण्डन नहीं हो सकता है। कहा है—

एगंताअसब्भूयं[3] सब्भूयमणिच्छियं च वयमाणो।
लोइयपरिच्छियाणं वयणिज्जपहे पडइ वादी[4] ॥59॥

एकान्ताऽसद्भूतं सद्भूतमनिश्चितं चावदन्।
लौकिकपरीक्षकाणां वचनीयपथं पतति (प्राप्नोति) वादी ॥59॥

शब्दार्थ—एगंताअसब्भूयं—एकान्त असद्भूत (का अथवा); सब्भूयमणिच्छियं—सद्भूत (होने पर भी) अनिश्चित; वयमाणो—बोलने वाला; वादी-वादी; लोइयपरिच्छियाणं लौकिक (तथा) परीक्षकों के; वयणिज्जपहे—वचन-पथ में (को); पडइ—प्राप्त होता है। (निन्दा का पात्र बन जाता है)।

---

1. ब° द विसेसंति।
2. द° हेउविसयोवणीयं।
3. ब° वायंतो केण जिप्पंतो।
4. ब° एयंता सब्भूयं।

एकान्त ही आक्षेप का विषय :

भावार्थ—वादी अपने अभिलषित साध्य की सिद्धि हेतु जिस साधन का प्रयोग करता है, उसका अपने साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है या नहीं—यह प्रकट करने लिए वह साधर्म्य या वैधर्म्य दृष्टान्त का प्रयोग करे या न करे; किन्तु यदि उसका पक्ष अनेकान्त सिद्धान्त की मान्यता के अनुरूप है तो किसी भी अवस्था में उसका खण्डन नहीं हो सकता। एकान्त मान्यता वाला पक्ष तो पूर्ण रूप से कभी निर्दोष सिद्ध नहीं हो सकता। इससे यह स्पष्ट है कि एकान्त मान्यता ही आक्षेप का विषय है। क्योंकि एकान्तवादी परस्पर विरोधी होने के कारण एक-दूसरे को नहीं मानते, जिससे विरोध तथा विग्रह उत्पन्न होता है। किन्तु अनेकान्त की मान्यता से परस्पर सौहार्द एवं सौमनस्य होता है तथा समन्वय की भूमिका का निर्माण होता है।

दव्वं खेत्तं कालं भावं पज्जायदेससंजोगे।
भेदं[1] च पडुच्च समा भावाणं पण्णवणिज्जा ॥60॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं पर्याय-देश-संयोगान्।
भेदं च प्रतीत्य सम्यग् भावानां प्रज्ञापनीयाः ॥60॥

शब्दार्थ—दव्वं—द्रव्य; खेत्तं—क्षेत्र; कालं —काल; भावं— भाव; पज्जायदेससंजोगे—पर्याय-देश (तथा) संयोग; च—और; भेदं—भेद (का); पडुच्च—आश्रय कर; भावाणं—पदार्थों का; पण्णवणिज्जा—प्रतिपादन करना; समा—सम्यक् (होता है)।

पदार्थ के प्रतिपादन का क्रम :

भावार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, संयोग तथा भेद इनका आश्रय लेकर ही पदार्थों के प्रतिपादन का क्रम सम्यक् होता है। पदार्थ के त्रिकालवर्ती स्व-स्थान का नाम क्षेत्र है। परिणमन के समय की मर्यादा का नाम काल है। पदार्थ में प्रतिसमय हो रहे अन्तरंग परिणमन का नाम भाव है तथा बहिरंग परिणमन पर्याय है। बाहर में जहाँ पर पदार्थ स्थित है, उस स्थान का नाम देश है और उस समय की परिस्थिति संयोग है। उस पदार्थ का कोई-न-कोई नाम अवश्य होता है—यही भेद है। इस प्रकार इन आठ बातों को ध्यान में रख कर ही किसी वस्तु का सम्यक् प्रतिपादन किया जा सकता है।

पाडेक्कणयपहगयं सुत्तं सुत्तधरसद्दसंतुट्ठा[2]।
अविकोवियसामत्था जहागमविभत्तपडिवत्ती[3] ॥61॥

1. ब' वाई।
2. ब' भेअं।
3. अ' सुत्तहरसद्दसंतुट्ठा। ब"—सुत्तरयसच्चसंतुट्ठा।

प्रत्येकनयपथगतं सूत्रं सूत्रधरशब्दसन्तुष्टाः।
अपि कोविदसामर्थ्याः यथागमविभक्तप्रतिपत्तयः ॥61॥

शब्दार्थ—पाडेक्कणयपहगयं—प्रत्येक नय मार्गगत (पर आश्रित); सुत्तं—सूत्र को (पढ़ कर जो); सुत्तधरसद्दसंतुट्ठा—सूत्रधर शब्द (से) सन्तुष्ट (हो जाते हैं); अविकोविदसामत्था— निश्चय (से) विद्वान् (के) सामर्थ्य (को); जहागमविभत्तपडिवत्ती—आगमानुसार भिन्न ज्ञान (प्राप्त करते हैं)।

अनेकान्ती ही भावस्पर्शी :

भावार्थ—जो किसी एक नय से सूत्र को पढ़ कर यह समझता है कि 'सकल संसार क्षणिक है', 'तत्त्व ग्राह्य-ग्राहक भाव से शून्य है', 'यह सब विज्ञान मात्र है', इत्यादि सूत्रों से यह धारणा बना लेता है कि मैं सूत्रधर हो गया हूँ, सूत्रों का जानकार हूँ, वह शब्द मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है। उसमें शब्दों की विद्वत्ता का अभिमान जाग उठता है। वास्तव में तो वह आगम से भिन्न अर्थ को समझ रहा है। क्योंकि शब्द मात्र को पढ़ लेने से कोई विद्वान् नहीं बन जाता। यथार्थ में सूत्र रटने वाले तत्त्व को जितना समझते हैं; तत्त्व उतना नहीं है। आगम के अनुसार वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है, विद्वान् बन सकता है जो तत्त्वज्ञ हो, वस्तु का तलस्पर्शी ज्ञान वाला हो तथा अनेकान्त सिद्धान्त से वस्तु-तत्त्व का भाव स्पर्श करने वाला हो।

सम्मद्दंसणमिणमो सयलसमत्तवयणिज्जणिद्दोसं।
अत्तुक्कोसविणट्ठा[1] सलाहमाणा विणासेंति[2] ॥62॥

सम्यग्दर्शनमेतत् सकलसमाप्तवचनीयनिर्दोषम्।
आत्मोत्कर्षविनष्टाः श्लाघमानाः विनाशयन्ति ॥62॥

शब्दार्थ—सलाहमाणा—(अपनी) प्रशंसा के पुल बाँधने वाले; अत्तुक्कोसविणट्ठा—आत्मोत्कर्ष (से) नष्ट (हो कर); सयलसमत्तवयणिज्जणिद्दोसं—सम्पूर्ण सिद्ध निर्दोष वक्तव्य (वाले); इणमो—इस; सम्मद्दंसण-सम्यग्दर्शन को; विणासेंति-नष्ट कर देते हैं।

आत्म-प्रशंसा से अनिष्ट :

भावार्थ—जो व्यक्ति एकान्त (पूर्वाग्रह) से समझ कर यह धारणा बना लेते हैं कि जो कुछ हम जानते हैं, वही पूर्ण है, निर्दोष है और वही वस्तु का वास्तविक स्वरूप

---

1. ब° जहागमविभागपडिवत्ती। द° जहागमविभपडिवत्ता।
2. ब° अत्तुक्कोसविणट्ठा।

है; इससे अधिक कुछ नहीं है-- वे अपने बुद्धि-वैभव को संकुचित कर कूपमण्डूक जैसे अपनी प्रशंसा के पुल बाँधा करते हैं तथा बुद्धि-विलास मात्र से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे सभी मतों में समान रूप से आस्थावान होते हैं। क्योंकि वे आत्म-प्रशंसा के अभिलाषी होते हैं। इससे उनका आत्मोत्कर्ष अवरुद्ध हो जाता है। और वे अनेकान्त रूप सम्यग्दर्शन को नष्ट कर देते हैं।

ण हु सासणभत्तीमेत्तएण सिद्धंतजाणओ होइ।
ण वि जाणओ वि[1] णियमा पण्णवणाणिच्छिओ णामं ॥63॥

न खलु शासनभक्तिमात्रेण सिद्धान्तज्ञातृको भवति।
नापि ज्ञातापि नियमात् प्रज्ञापनानिश्चितो नाम ॥63॥

शब्दार्थ—सासणभत्तीमेत्तएण—(जिन) शासन (की) भक्ति मात्र से (कोई व्यक्ति); ण हु—नहीं ही; सिद्धंतजाणओ—सिद्धान्त (का) ज्ञाता; होइ—हो जाता है; जाणओ वि—जानकार (होने पर) भी; ण वि—नहीं ही; णियमा—नियम से; पण्णवणाणिच्छिओ—प्ररूपणा (के योग्य) निश्चित; णामं—नाम (वाला होता है)।

भक्ति मात्र से ज्ञान नहीं :

भावार्थ—जिन-शासन में भक्ति रखने वाला भक्त जिन-सिद्धान्त का ज्ञाता नहीं हो जाता। और सिद्धान्त का (शब्दार्थ) ज्ञाता भी निश्चित रूप से तत्त्वों की प्ररूपणा करने में समर्थ नहीं होता। वास्तव में तत्त्वों की प्ररूपणा वही कर सकता है, जिसे तत्त्व-ज्ञान हो, आत्म-ज्ञान हो। पूर्ण निश्चित तत्त्वज्ञान तथा आत्मानुभव के बिना तथाकथित तत्त्वज्ञानी भी तत्त्वों की यथावत् विवेचना से हीन देखे जाते हैं। यथार्थ में तत्त्वज्ञान की विवेचना अनेकान्त-दृष्टि से ही सम्भव है। अतः तत्त्वज्ञान के बिना केवल सिद्धान्त का ज्ञाता पारंगत न होने से प्ररूपणा करने में असमर्थ रहता है।

सुत्तं अत्थणिमेणं[2] ण सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती।
अत्थगई उ[3] णयवायगहणलीणा दुरहिगम्मा[4] ॥64॥

सूत्रमर्थनिमेनं (स्थानं) न सूत्रमात्रेणार्थप्रतिपत्तिः।
अर्थगतिः पुन र्नयवादगहनलीना दुरभिगम्या ॥64॥

---

1. ब' विणाएति।
2. ब' अत्थमिमेणं। द' अत्थनियेणं।
3. ब' अत्थगई विअ।
4. अ' दुरभिगम्मा।

शब्दार्थ—अत्थणिमेणं—अर्थ (का) स्थान; सुत्तं सूत्र (है); सुत्तमेत्तेण (किन्तु) सूत्र (जान लेने) मात्र से; अत्थपडिवत्ती—अर्थ (का) ज्ञान; ण—नहीं (होता है); णयवायगहणलीणा— नयवाद (जो कि) गहन (है, जिस पर अर्थ का ज्ञान) निर्भर है; उ—परन्तु (फिर भी); अत्थगई—अर्थ-ज्ञान; दुरभिगम्मा—दुर्बोध्य (है)।

अर्थ-ज्ञान दुर्लभ है :

भावार्थ—पदार्थ को समझाने के लिए सूत्र कहे गए हैं। किन्तु सूत्रों को पढ़ लेने मात्र से भावार्थ समझ में नहीं आ जाता। हाँ, शब्दार्थ समझ लेते हैं। किन्तु वास्तविक अर्थ-ज्ञान तो नयवाद के प्रयोग से ही प्रकट होता है। वास्तव में अर्थ-ज्ञान दुर्लभ है। यह सहज ही प्राप्त नहीं होता। जो नयों के द्वारा सूत्रों को तथा उनके भावों को सम्यक् रूप में समझते हैं, अनुभव करते हैं, वे ही यथार्थ अर्थ-ज्ञान को उपलब्ध होते हैं। वास्तव में अर्थ का ज्ञान नयवाद पर निर्भर होने से दुर्लभ है।

तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसम्पायणम्मि जइयव्वं।
आयरियधीरहत्था[1] हंदि महाणं विलंबेंति[2] ॥65॥

तस्मादधिगतसूत्रेणार्थसम्पादने यतितव्यम्।
आचार्य धीरहस्ता गृह्यतां महाज्ञां विडम्बयन्ति ॥65॥

शब्दार्थ—तम्हा—इसलिए; अहिगयसुत्तेण—सूत्र जान लेने (पर) से; अत्थसंपायणम्मि अर्थ (के) सम्पादन में; जइयव्वं—प्रयत्न करना चाहिए; हंदि—निश्चित (यह कि); आयरियधीरहत्था—अनभ्यस्तकर्म (अनुभवहीन) आचार्य; महाणं—जिनागम (जिनवाणी की); विलंबेंति—विडम्बना करते हैं।

अभ्यासहीन आचार्यों से जिन-शासन की विडम्बना :

भावार्थ—सिद्धान्त की प्ररूपणा तीन प्रकार से की गई है: शब्द-रूप से, ज्ञान-रूप से और अर्थ-रूप से। जिनागम का वर्णन इन तीनों रूपों में किया गया है। इनमें शब्द से ज्ञान और ज्ञान से अर्थ उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। यद्यपि अर्थ का स्थान सूत्र है, सूत्र से ज्ञानपूर्वक अर्थ-ज्ञान होता है। परन्तु केवल सूत्र के शब्दार्थ को जान लेने से वास्तविक अर्थ का ज्ञान नहीं हो जाता। अर्थ का ज्ञान तो नयवाद को जानने से होता है। अतएव जिसने सूत्र जान लिया है, उसे सिद्धान्त का भलीभाँति अर्थ-ज्ञान नहीं है, ऐसे आचार्य वास्तव में जिन-शासन की विडम्बना करते हैं।

---

१. ब° आयरियथेरहत्था।

२. ब° पहाणं विलंबंति।

जह जह बहुस्सुओ सम्मओ य सिस्सगणसंपरिवुडो[1] य।
अविणिच्छिओ य समये[2] तह तह सिद्धंतपडिणीओ ॥66॥

यथा यथा बहुश्रुतः सम्मतश्च शिष्यगणसंपरिवृतश्च।
अविनिश्चितश्च समये तथा तथा सिद्धान्तप्रत्यनीकः ॥66॥

शब्दार्थ—समये-सिद्धान्त में; अविणिच्छिओ-अनिश्चित (बुद्धि वाला कोई आचार्य); जह जह—जैसे-जैसे; बहुस्सुओ—बहुश्रुत (पण्डित); सम्मओ—माना जाता है; य—और; सिस्सगण-संपरिवुडो—शिष्यवृन्द से घिरता जाता है; तह तह—वैसे-वैसे; सिद्धंतपडिणीओ— सिद्धान्त के प्रतिकूल होता जाता है।

पर-समय में रत आचार्य :

भावार्थ—जो आचार्य स्व-समय रूप सिद्धान्त नहीं जानते हैं, परन्तु बहुश्रुत (अनेक शास्त्रों के ज्ञाता) होते हैं, वे मूलतः तत्त्व-निर्णय के अभाव में शिष्य-समूह से घिर जाते हैं और शनैः-शनैः उनका जीवन सिद्धान्त के प्रतिकूल होता है। अतएव ऐसे आचार्य को सिद्धान्त का शत्रु कहा गया है।

चरण-करणप्पहाणा ससमय—परसमयमुक्कवावारा।
चरण-करणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण याणंति ॥67॥

चरण-करणप्रधानाः स्वसमय-परसमयमुक्तव्यापाराः।
चरण-करणस्य सारं निश्चयशुद्धं न जानन्ति ॥67॥

शब्दार्थ—चरण-करणप्पहाणा—(बाह्य) आचरण की क्रियाओं को मुख्य (समझने वाले); ससमय-परसमयमुक्कवावारा—स्व-समय (और) पर-समय (के) व्यापार (चिन्तन) से मुक्त; चरण-करणस्स—आचरण परिणाम का; सारं—सार; णिच्छयसुद्धं—निश्चय शुद्ध (आत्मा) को; ण—नहीं; याणंति—जानते हैं (अनुभव करते हैं)।

आचरण का सारः परम तत्त्व :

भावार्थ—जो जीव विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र रूप निश्चय मोक्ष-मार्ग से निरपेक्ष हो कर केवल व्रत, नियमादि शुभाचरण रूप व्यवहार नय को ही मोक्ष-मार्ग मानते हैं, वे देवलोकादि की क्लेश-परम्परा भोगते हुए संसार में परिभ्रमण करते हैं। परन्तु जो शुद्धात्मानुभूति लक्षण युक्त निश्चय मोक्षमार्ग

1. ब° सीसगणसंपरिवुडो।
2. ब° अविणिच्छओ अ समए।

को मानते हैं तथा साधन-शक्ति-सम्पन्नता के अभाव में निश्चय-साधक शुभाचरण करते हैं, तो वे सराग सम्यग्दृष्टि-परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं। परन्तु जो जीव केवल निश्चयनयावलम्बी हैं, वे व्यवहार रूप क्रिया-कर्मकाण्ड को आडम्बर जान कर स्वच्छन्द होकर न निश्चयपद पाते हैं और न व्यवहार को ही प्राप्त करते हैं। उनको महान् आलसी कहा गया है।

आचरण का सार परमतत्त्व की उपलब्धि करना है, परमात्मा बनना है। क्योंकि शुद्धात्मा को जाने बिना यह जीव मोक्ष-मार्ग का पथिक नहीं बन सकता है। केवल व्रत, नियमादि के परिपालन से शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता है। जो शुद्ध आत्मा को आगम से जान कर उसका चिन्तन-मनन, अनुभव तथा अभ्यास करते हैं, वे ही निश्चय शुद्ध आत्मा को जान सकते हैं।

णाणं किरियारहियं किरियामेत्तं च दो वि एगंता[1]।
असमत्था दाएउं[2] जम्ममरणदुक्ख मा भाई[3] ॥68॥

ज्ञानं क्रियारहितं क्रियामात्रं च द्वावप्येकान्तौ।
असमर्थौ दापयितुं जन्ममरणदुःखाद् मा भैषीः ॥68॥

शब्दार्थ—किरियारहियं—चारित्र विहीन; णाणं—ज्ञान; च—और; किरियामेत्तं—(ज्ञान शून्य) मात्र चारित्र; दो वि—दोनों ही; एगंता—एकान्त (हैं); जम्ममरणदुक्ख—जन्म-मरण (के) दुःखों (से); मा—मत; भाई—डरो; (परस्पर साथ रह कर ज्ञान और चारित्र); दाएउं—(जन्म-मरण-दुःख) दिलाने में; असमत्था—असमर्थ (हैं)।

सापेक्ष ज्ञान, चारित्र ही कार्यकारी :

भावार्थ—बिना ज्ञान के बाहरी धार्मिक क्रियाओं के पालन मात्र से आत्मा का कोई हित नहीं होता है। इसी प्रकार ज्ञान होने पर धार्मिक क्रियाओं का पालन एवं वैराग्य न हो, तो जीव जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार किसी वने जंगल में भटके हुए अन्धे और लंगड़े अलग-अलग प्रयत्न करते हुए दावाग्नि से अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते, वैसे ही अलग-अलग ज्ञान तथा चारित्र से जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। परन्तु जैसे लंगड़ा अन्धे के कन्धे पर बैठ कर जंगल से पार हो जाता है, उसी प्रकार चारित्र भी ज्ञान का आलम्बन लेकर जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा दिलाने में समर्थ होता है। अतएव सापेक्ष रूप से ज्ञान तथा चारित्र कार्यकारी हैं; निरपेक्ष रूप से नहीं।

---

1. ब° एयंता।
2. ब° थाएऊं।
3. द° भाइ :

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स[1] ॥69॥

येन विना लोकस्यापि व्यवहारः सर्वथा न निवर्तते।
तस्य भुवनैकगुरवे नमोऽनेकान्तवादाय ॥69॥

शब्दार्थ—जेण विणा—जिसके बिना; लोगस्स—लोक का; ववहारो—व्यवहार; वि—भी; सव्वहा—सर्वथा; ण—नहीं; णिव्वडइ—निष्पन्न होता है; तस्स—उस; भुवणेक्कगुरुणो—तीन लोक (के) अद्वितीय गुरु; अणेगंतवायस्स—अनेकान्तवाद को; णमो—नमस्कार (है)।

व्यवहार का भी साधक अनेकान्त :

भावार्थ—अनेकान्तवाद परमार्थ तथा व्यवहार दोनों का आश्रय-स्थान है। इसका आश्रय लिए बिना परमार्थ और व्यवहार दोनों ही नहीं बन सकते। यथार्थ में वस्तु का सत्य ही ग्रहण करने योग्य है। क्योंकि व्यवहार में व्यक्ति से सत्य में विभिन्नता लक्षित होती है। परन्तु वस्तु के सत्य में किसी भी प्रकार की भिन्नता परिलक्षित नहीं होती। लोक में स्थिति, स्थान समय तथा भावों की विलक्षणता के कारण एक ही वस्तु, व्यक्ति या स्थान की प्रतीति अलग-अलग समयों में भिन्न-भिन्न रूप से अनुभव में आती है। परन्तु स्व-संवेदनजन्य अतिलौकिक आनन्द की अनुभूति सब में समान रूप से अनुस्यूत होती है। इस प्रकार यह अनेकान्तवाद परमार्थ तथा लोक-व्यवहार दोनों का समान रूप से साधक है। अतएव सम्पूर्ण विश्व का यह एक अद्वितीय गुरु है।

भद्दं मिच्छादंसण[2] समूहमहयस्स अमयसारस्स[3]।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥70॥

भद्रं मिथ्यादर्शनसमूहमथकस्यामृतसारस्य।
जिनवचनस्य भगवतः संविग्नसुखाधिगम्यस्य ॥70॥

शब्दार्थ—मिच्छादंसण—मिथ्यादर्शन (मिथ्या मतों के); समूह—समुदाय (वर्ग का); महयस्स—मथन करने वाले; अमयसारस्स—अमृत सार (रूप), संविग्ग मुमुक्षु (के); सुहाहिगम्मस्स—सुख (पूर्वक) समझ में आने वाले; भगवओ—भगवान के; जिणवयणस्स—जिन वचन (के) से; भद्दं—भद्र (कल्याण हो)।

---

1. यह गाथा 'ब' और 'द' प्रति में मिलती है।
2. ब' मिच्छदुदंसण।
3. अ' मयसायस्स। द'—महयस्स।

मंगल कामना :

भावार्थ—आचार्य सिद्धसेन इस गाथा में अन्त्य मंगल-कामना करते हुए कहते हैं कि जिनेन्द्रदेव के वचन मिथ्यादर्शनों के समूह का मथन करने वाले तथा अमृत-सार से युक्त हैं। दही को मथ कर उस का सार ग्रहण किया जाता है। मुमुक्षुओं द्वारा उपासित तथा सरलता से समझ में आने वाले जिनेन्द्र भगवान् के वचन जगत का कल्याण करें। वास्तव में जैनधर्म को तटस्थ व्यक्ति ही समझ सकता है। जो पूर्वाग्रहों तथा अपनी-अपनी मान्यताओं से धारणाबद्ध है, वह इस धर्म का मर्म नहीं समझ सकता।

❑❑

गाहाणुक्कमणिया

(अ)

अणुदुअणुएहिं दव्वे 3-39
अण्णायं पासंतो 2-13
अण्णोण्णाणुगयाणं 1-47
अत्यंतरभूएहि य 1-36
अत्थि अविणासधम्मी 3-55
अत्थि त्ति णिच्चियप्पं 1-33
अदिट्ठं अण्णायं च 2-12
अह देसो सब्भावे 1-37
अह पुण पुव्वपउत्तो 2-39

(आ)

आइट्ठो असब्भावे 1-39

(इ)

इहरासमूहसिद्धो 1-27

(उ)

उप्पज्जंति वियंति य 1-11
उप्पज्जमाणकालं उप्पण्णं 3-37
उप्पाओ दुवियप्पो 3-32

(ए)

ए ए पुण संगहओ 1-13
एगंत णिच्चिसेसं 3-2
एगंतपक्खवाओ जो 3-16
एगंताअसब्भूयं 3-59
एगदवियम्मि जे 1-31
एगसमयम्मि एगदवियस्स 3-41
एवं एगे आया 1-49
एवं जिणपण्णत्ते 2-32
एवं जीवदव्वं अणाइणिहणं 2-41
एवं सत्तवियप्पो वयणपहो 1-41
एवं सेसिंदियदंसणम्मि 2-24

(क)

कम्मं जोगणिमित्तं 1-19
कायमणवयणकिरियारूवाइगई 3-42
कारणं सहाव [illegible] 3-53
कुंभो ण जीवदवियं जीवो वि 3-51
केइ भणंति जइया जाणइ 2-4
केवलणाणमणंतं जहेव 2-14
केवलणाणं साई 2-34
केवलणाणावरणक्खयजायं 2-5
कोवं उप्पायंतो पुरिसो 3-7

(ग)

गइपरिणयं गई चेव केइ 3-29
गुणणिव्वत्तियसण्णा एवं 3-30
गुणसद्दमंतरेणावि तं 3-14

(च)

चक्खुअचक्खुअवहिकेवलाण 2-20
चरण-करणप्पहाणा ससमय 3-67

(ज)

जं अप्पुट्ठा भावा ओहिणाणस्स 2-29
जं अप्पुट्ठे भावे 2-30
जं काविलं दरिसणं एयं 3-48
जं च पुण अरहया तेसु 3-11
जंपंति अत्थि समये 3-13
जं पच्चक्खग्गहणं ण एंति 2-28
जं सामण्णं गहणं दंसण 2-1
जइ ओग्गहमेत्तं दंसणं 2-23

जइ सव्वं सायारं जाणइ 2-10
जह एए तह अण्णे 1-15
जह कोइ सट्ठिवरिसो 2-40
जह जह बहुस्सुओ सम्मओ 3-66
जह णेग लक्खणगुणा 1-22
जह दवियमप्पियं तं तहेव 1-42
जह दससु दसगुणम्मि य 3-15
जह पुण ते चेव मणी 1-24
जह संबंधविसिट्ठो 3-18
जाइकुलरूवलक्खणसण्णा 1-45
जावदिया वयणवहा तावदिया 3-47
जीवो अणाइणिहणो 2-37
जीवो अणाइणिहणो जीव त्ति 2-42
जुज्जइ संबंधवसा 3-21
जेण मणोविसयगयाण 2-19
जे वयणिज्जवियप्पा 1-53
जे संघयणाईया भवत्थकेवलि 2-35
जे संतवायदोसे सक्कोलूया 3-50
जो आउंचणकालो सो 3-36
जो पुण समासओ 1-30
जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ 3-45

(ण)

णत्थि ण णिच्चो ण कुणइ 3-54
णत्थि पुढवीविसिट्ठो 3-52
ण य तइओ अत्थि 1-14
ण य दव्वट्ठियपक्खे 1-17
ण य बाहिरओ भावो 1-50
ण य होइ जोव्वणत्थो बालो 1-44
णवि अत्थि अण्णवाओ ण वि 3-26
ण हु सासणभत्तीमेत्तएण 3-63
णाणं अप्पुट्ठे अविसए य 2-25
णाणं किरियारहियं किरिया 3-68
णामं ठवणा दविए 1-6
णियमेण सद्दहंतो छक्काए 3-28
णिययवयणिज्जसच्चा 1-28

(त)

तम्हा अण्णो जीवो 2-38
तम्हा अहिगयसुत्तेण 3-65
तम्हा चउव्विभागो 2-17
तम्हा सव्वे वि णया 1-21
तह णिययवायसुविणिच्छिया 1-23
तह सव्वे णयवाया 1-25
तिण्णवि उप्पायाई 3-35
तित्थयरवयणसंगह 1-3
ते उ भयणोवणीया 3-51
तेहिं अइयाणागयदोसगुण 1-46

(द)

दंसणपुव्वं णाणं णाणणिमित्तं 2-22
दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि 2-9
दंसणमोग्गहमेत्तं घडो 2-21
दव्वं खेत्तं कालं भावं 3-60
दव्वं जहा परिणयं 3-4
दव्वं पज्जवविउयं 1-12
दव्वंतरसंजोगाहिं के वि 3-38
दव्वत्थंतरभूया मुत्तामुत्ता य 3-24
दव्वट्ठियणयपयडी 1-4
दव्वट्ठियस्स जो चेव कुणइ 1-52
दव्वट्ठियस्स आया 1-51
दव्वट्ठियो त्ति तम्हा 1-9
दव्वट्ठियो वि होऊण 2-2
दव्वस्स ठिई जम्मविगमा 3-23
दव्वट्ठियवत्तव्वं अवत्थु 1-10
दव्वट्ठियवत्तव्वं सव्वं सव्वेण 1-29
दव्वट्ठियवत्तव्वं सामण्णं पज्जवस्स 3-57
दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ 3-43
दूरे ता अण्णत्तं गुणसद्दे 3-9
दो उण णया भगवया 3-10
दोहि वि णयेहि णीयं 3-49

(प)

पइसमयं भावं विगइ 3-3
पच्चुप्पण्णम्मि वि पज्जयम्मि 3-6
पज्जवणिस्सामण्णं 1-7
पज्जवणयवोक्कंतं 1-8
पडिपुण्णजोव्वणगुणो जह 1-43
पण्णवणिज्जा भावा 2-16
परपज्जवेहिं असरिस 3-5
परवत्तव्वयपक्खा अविसिट्ठा 2-18
परिणमणं पज्जायो 3-12
परिसुद्धो णयवाओ आगम 3-46
परिसुद्धं सायारं अवियत्तं 2-11
पाडेक्कणयपहगयं सुत्तं 3-61
पिउपुत्तणत्तुभव्वयभाऊणं 3-17
पुरिसज्जायं तु पडुच्च 1-54
पुरिसम्मि पुरिससद्दो 1-32

(ब)

बंधम्मि अपूरंते 1-20
बहुयाण एगसद्दे जह 3-40

(भ)

भण्णइ खीणावरणे जह 2-6
भण्णइ जह चउणाणी 2-15
भण्णइ विसमपरिणयं कह 3-22
भण्णइ संबंधवसा जह 3-20
भद्दं मिच्छादंसण समूह 3-70
भयणा वि हु भइयव्वा 3-27
भविओ सम्मद्दंसणणाण 3-44

(म)

मइसुयणाणणिमित्तो 2-27
मणपज्जवणाणंतो णाणस्स 2-3
मणपज्जवणाणं दंसणं 2-26
मूल णिमेणं पज्जवणयस्स 1-5

(र)

रूवरसगंधफासा असमाण 3-8
रूवाइपज्जवा जे देहे 1-48

(ल)

लोइयपरिच्छयसुहो 1-26

(व)

वंजणपज्जायस्स उ पुरिसो 1-34
विगमस्स वि एस विही 3-34

(स)

संखेज्जमसंखेज्जं अणंतकप्पं 2-43
संतम्मि केवले दंसणम्मि 2-8
सब्भावासब्भावे देसो 1-40
सब्भावे आइट्ठो देसो 1-38
समण्णाणे णियमेण दंसणं 2-33
सम्मद्दंसणमिणमो सयल 3-62
समयपरमत्थवित्थर 1-2
सव्वणयसमूहम्मि वि णत्थि 1-16
सवियप्पणिव्वियप्पं इय 1-35
साई अपज्जवसियं ति 2-31
साभाविओ वि समुदयकओ 3-33
सामण्णम्मि विसेसो 3-1
साहम्मऊ व्व अत्थं 3-56
सिद्धं सिद्धत्थाणं 1-1
सिद्धत्तणेण य पुणो 2-36
सीसमईविप्फारणमेत्तत्थोयं 3-25
सुत्तं अत्थणिमेणं ण सुत्तमेत्तेण 3-64
सुत्तम्मि चेव साई 2-7
सुहदुक्खसंपओगो ण 1-18

(ह)

हेउविसओवणीयं जह 3-58
होज्जाहि दुगुणमहुरं 3-19

❑❑